॥श्रीहरिः॥

436

कल्याणकारी प्रवचन

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरिः ॥

नम्र निवेदन

प्रस्तुत पुस्तकमें परमपूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा दिये गये कुछ कल्याणकारी प्रवचनोंका संग्रह किया गया है। ये प्रवचन भगवत्प्राप्तिके अभिलाषी साधकोंके लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं मार्गदर्शक हैं। इनमें गूढ़ तात्त्विक बातोंको सरल भाषा और सरल रीतिसे समझाया गया है। कल्याणकांक्षी पाठकोंसे निवेदन है कि वे इस पुस्तकका अध्ययन-मनन करके इससे अधिकाधिक लाभ उठानेकी चेष्टा करें।

विनीत—

प्रकाशक

१. संसारका आश्रय कैसे छूटे ?

हम भगवान्‌के आश्रित हो जायँ अथवा संसारका आश्रय छोड़ दें दोनोंका एक ही अर्थ होता है। संसारका आश्रय सर्वथा छूट जानेसे भगवान्‌का आश्रय स्वतः प्राप्त हो जाता है और भगवान्‌के सर्वथा आश्रित हो जानेसे संसारका आश्रय स्वतः छूट जाता है। इन दोनोंमेंसे किसी एककी मुख्यता रखकर चलें अथवा दोनोंको साथ रखते हुए चलें, एक ही अवस्था हो जाती है अर्थात् कल्याण हो जाता है।

भगवान्‌के आश्रित होनेमें संसारका आश्रय ही खास बाधक है। संसारका आश्रय न छूटनेमें खास कारण है—संयोगजन्य सुखकी आसक्ति। संयोगजन्य सुखमें मनका जो खिंचाव है, प्रियता है, यही संसारके आश्रयकी, संसारके सम्बन्धकी खास जड़ है। यह जड़ कट जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। परन्तु भीतरमें संयोगजन्य सुखकी लोलुपता रहते हुए बाहरसे चाहे सम्बन्ध छोड़ दो, साधु भी बन जाओ, पैसा भी छोड़ दो, पदार्थ भी छोड़ दो, गाँव छोड़कर जंगलोंमें भी चले जाओ, तो भी संसारका आश्रय छूटेगा नहीं।

संयोगजन्य सुख आठ प्रकारका है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, मान (शरीरका आदर-सत्कार), बड़ाई (नामकी प्रशंसा) और आराम। ये आठ प्रकारके संयोगजन्य सुख ही मूल बाधाएँ हैं। जबतक इन सुखोंमें आकर्षण है, प्रियता है, ये अच्छे लगते हैं, तबतक संसारका आश्रय छूटता नहीं और संसारका आश्रय छूटे बिना सर्वथा भगवान्‌का आश्रय होता नहीं। अगर केवल भगवान्‌का ही आश्रय ले लिया जाय तो संसारका आश्रय छूट जायगा। संयोगजन्य सुखका बड़ा भारी आकर्षण है। पर वह कब छूटेगा ? जब मनुष्य केवल भगवान्‌का आश्रय लेकर भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन

होगा। भगवान्‌के भजन-स्मरणमें लीन होनेसे जब पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संयोगजन्य सुख सुगमतासे, सरलतासे छूट जायगा। उस पारमार्थिक सुखमें इतनी विलक्षणता, अलौकिकता है कि उसके सामने संसारके सब सुख नगण्य हैं, तुच्छ हैं, कुछ नहीं हैं। जब वह पारमार्थिक सुख मिलने लगेगा, तब संसारके सब सुख फीके पड़ जायँगे, स्वतः स्वाभाविक तुच्छ लगने लगेंगे। अतः उस पारमार्थिक सुखको, आनन्दको ही लेना चाहिये। उसको लेनेके दो तरीके हैं चाहे भावना-(भक्ति-) से ले लो और चाहे विवेक-(ज्ञान-) से ले लो। भावनासे ऐसे लो कि भगवान् हैं, वे मेरे हैं और मैं उनका हूँ—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे।

भगवान्‌को अपना माननेके साथ-साथ 'दूसरो न कोई'—यह मानना जरूरी है। परंतु होता यह है कि संसारमें अपनापन रखते हुए भगवान्‌में अपनापन करते हैं। वास्तवमें संसारके साथ अपनापन रहता नहीं—यह निश्चित बात है। जन्मसे पहले जिस कुटुम्बके साथ अपनापन था, आज उस कुटुम्बकी याद ही नहीं है। इसी प्रकार आज जिस कुटुम्बके साथ, जिन रुपयोंके साथ, जिन भोगोंके साथ हमारा अपनापन है, वे भविष्यमें यादतक नहीं रहेंगे, सम्बन्ध तो क्या रहेगा ? अतः जो रहेगा ही नहीं, उसको छोड़नेमें क्या जोर आता है ? जो रहनेवाला हो, उसको यदि छोड़नेके लिये कहा जाय, तब तो कुछ कठिनता भी मालूम देगी कि रहनेवाली चीजको कैसे छोड़ दें ! पर संसार तो छूटेगा ही और छूटता ही चला जा रहा है; अतः उसको छोड़नेमें कठिनता कैसी ? केवल मूर्खताके कारण ही हमने उसको पकड़ रखा है।

थोड़ा-सा विचार करें तो बात स्पष्ट समझमें आती है कि बाल्यावस्थामें हमारा जिन मित्रोंके साथ, जिन खिलौनोंके साथ, जिन व्यक्तियोंके साथ सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध आज केवल याद-मात्र है। आज वह सम्बन्ध नहीं है। न उस अवस्थाके साथ सम्बन्ध है, न उन

घटनाओंके साथ सम्बन्ध है। न उन खिलौनोंके साथ सम्बन्ध है, न उस समयके साथ सम्बन्ध है। अब आप कहते हो कि हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी और हम अड़ जायँ कि ऐसी नहीं थी, तो आपके पास कोई प्रबल प्रमाण नहीं है कि आप उसको हमें बता सकें। आप और हम जिद भले ही कर लें, पर 'हमारी बाल्यावस्था ऐसी थी'—इसको आप और हम नहीं बता सकते। बतायें भी तो क्या बतायें और कैसे बतायें ? किसकी ताकत है, जो उसको बता दे ? आपको अपनी बाल्यावस्था वर्तमान अवस्थाकी तरह सच्ची दीखती थी, पर आज उसको आप सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर आज आपकी जो अवस्था है, उसको आगे सिद्ध करना चाहेंगे तो कैसे करेंगे ? जिस तरहसे उस बाल्यावस्थाका समय बीता उसी तरहसे यह आजका समय बीत रहा है। भविष्यमें क्या होगा, अभी घण्टेभर बादमें क्या होगा, कुछ पता नहीं ! आजसे युगों पहले क्या हुआ, पता नहीं और आजसे युगों बाद क्या होगा, पता नहीं। वर्तमान भी बड़ी तेजीसे बीत रहा है। वर्तमान, 'है' का नाम नहीं है, प्रत्युत जो बरत रहा है अर्थात् तेजीसे जा रहा है, उसका नाम वर्तमान है। वर्तमान इतनी तेजीसे जा रहा है कि इसका एक क्षण भी स्थिर नहीं है। वर्तमान कोई काल है ही नहीं, केवल भूत और भविष्यकी सन्धिको वर्तमान कहा गया है। वर्तमान शब्दका अर्थ ही है—चलता हुआ। जो भविष्य है, वह सामने आ करके भूतमें जा रहा है। जो भविष्य भूतमें जा रहा है, उसको वर्तमान कहते हैं। इस प्रकार जो कभी स्थिर रहता ही नहीं, जिसका प्रतिक्षण वियोग हो रहा है, उससे विमुख होनेमें क्या जोर आता है, बताओ ? यह तो जबरदस्ती छूटेगा, रहेगा नहीं। इसको रखना चाहोगे तो बेइज्जती, दुःख, सन्ताप, जलन, आफतके सिवाय और कुछ मिलनेका है नहीं। परन्तु इसको छोड़ दोगे तो निहाल हो जाओगे ! अतः चाहे संसारके सम्बन्धका त्याग कर दो चाहे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध मान लो कि 'हे भगवन् ! आप ही हमारे हो'। भगवान्‌का

ही नाम लो, उनका ही चिन्तन करो, उनके आगे रोओ और कहो कि 'महाराज ! संसारका त्याग करनेमें मैं तो हार गया, मुझे अपनी मनोवृत्तियाँ बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं।' ऐसा करके भगवान्‌के शरण हो जाओ। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

हौं हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसै प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥

(विनयपत्रिका ८९)

हमारेसे तो ये शत्रु सीधे होते नहीं। वे प्रभु कृपा करेंगे, तभी ये सीधे होंगे। परंतु अपनी शक्तिका पूरा उपयोग किये बिना मनुष्य अपनी शक्तिसे हताश नहीं हो पाता—अपनेमें असमर्थताका अनुभव नहीं कर पाता। अपनी शक्तिसे हताश हुए बिना अभिमान नहीं मिटता कि मैं ऐसा कर सकता हूँ। पूरी शक्ति लगाकर भी काम न बने तो कह दे कि 'हे नाथ ! अब मैं कुछ नहीं कर सकता !' तो फिर उसी क्षण काम बन जायगा। परन्तु पूरी शक्ति लगाये बिना ऐसी अनन्यता नहीं आती। इसलिये जो आप कर सकते हैं, उसे पूरा करके मनकी निकाल दें। जब भीतर यह विश्वास हो जायगा कि मेरी शक्तिसे काम नहीं होगा, तब स्वतः पुकार निकलेगी कि 'हे नाथ ! मेरी शक्तिसे नहीं होता' और उसी क्षण भगवान्‌की शक्तिसे काम पूरा हो जायगा। अपनी शक्ति बाकी रखते हुए भगवान्‌के अनन्य शरण नहीं हो सकते। अगर अपनी शक्तिका कुछ आश्रय है कि हम कुछ कर सकते हैं, तो करके पूरा कर लो। जितना जोर लगाना हो, पूरा-का-पूरा लगा लो। पूरा जोर लगानेपर जब जोर बाकी नहीं रहेगा, तब कार्य सिद्ध हो जायगा। अगर जोर लगाये बिना ही संसारका आश्रय छूट जाय तो भी कार्य सिद्ध हो जायगा। कारण कि संसारका जो आश्रय है, वह परमात्माका आश्रय नहीं लेने देता, इतना ही उसका काम है और खुद वह रहता नहीं !

संसारका आश्रय व्याकरणके 'क्विप्' प्रत्ययकी तरह है। 'क्विप्' प्रत्यय खुद तो रहता नहीं, पर धातुके गुण और वृद्धि नहीं होने देता।

ऐसे ही संसारका आश्रय खुद तो रहता नहीं, पर मनुष्यमें न तो सद्गुण-सदाचार आने देता है और न उसको परमात्माकी तरफ बढ़ने देता है। अतः संसारका आश्रय रखनेसे कोरा, निखालिस धोखा ही होगा। इसमें कोई लाभ होता हो तो बताओ ?

श्रोता—अनन्त जन्मोंसे संसारका आश्रय लेनेके संस्कार पड़े हुए हैं !

स्वामीजी—यह सब कुछ नहीं, केवल बहानेबाजी है। आपका विचार ही नहीं है, इसलिये बहाना बनाते हो। बहानेबाजियाँ मैंने बहुत सुनी हैं। 'क्या करें, हमारे कर्म ठीक नहीं हैं। क्या करें, कोई अच्छा महात्मा नहीं मिलता। क्या करें, ईश्वरने ऐसी कृपा नहीं की। क्या करें, वायुमण्डल ऐसा ही है। क्या करें, समय ऐसा ही आ गया है। समय बहुत खराब आ गया है, समाजमें कुसंग बहुत है। क्या करें, हमारा प्रारब्ध ऐसा ही है। क्या करें, हमारे संस्कार ऐसे ही हैं। कहाँ जायँ ? क्या करें ? किस तरहसे करें ? किससे पूछें ? ईश्वरने हमारेको ऐसा ही बना दिया। भगवान्‌की माया ही ऐसी है, हम क्या करें !'—ये सब बिलकुल फालतू बातें हैं, इनमें कुछ तत्त्व नहीं है। मैंने इनका अध्ययन किया है। ये जितनी भी बहानेबाजियाँ हैं, ये सब केवल असली लाभसे वञ्चित होनेके तरीके हैं। कहीं असली लाभ न हो जाय—इसके लिये ढूँढ़-ढूँढ़कर तरीके निकाले हैं और कुछ नहीं ! ऐसी बढ़िया रीतिसे कमर कसी है कि किसी तरहसे आध्यात्मिक उन्नति न हो जाय। कुछ-न-कुछ आड़ लगा ही देंगे कि स्वामीजीको इन बातोंका क्या पता ? इनके गृहस्थ तो है नहीं। दुकान इनके है नहीं। इनको तो मुफ्तमें रोटी मिलती है और बातें बनानी आती हैं। इस प्रकार किसी तरहसे इनकी बातोंको टाल देना है—यह आपने सोच रखा है। इसके लिये तरीके आपको बहुत आते हैं। एक-दो, चार-पाँच तरीके थोड़े ही हैं। यदि कर्म बाधक हैं, तो कर्म तुम्हारे किये हुए हैं या और किसीके ? तुम्हारे बनाये हुए संस्कार यदि बाधक हैं,

तो क्या उनको तुम मिटा नहीं सकते ? आपने किया है, देखा है, सुना है, समझा है, पढ़ा है— इस प्रकार आपने स्वयं अपने भीतर जो संस्कार डाले हैं, वे ही उपजते हैं। अतः आपके किये हुए संस्कार ही उपजते हैं, आपके किये बिना एक भी संस्कार नहीं उपज सकता।

एक संतसे किसीने पूछा कि 'महाराज ! भगवान्‌में मन कैसे लगे ?' संतने उत्तर दिया कि तुम स्वयं भगवान्‌में लग जाओ तो मन भी आप-से-आप भगवान्‌में लग जायगा। मन कहाँ जाता है ? तुमने जहाँ-जहाँ अपना सम्बन्ध जोड़ा है, वहाँ-वहाँ मन जाता है। उसने कहा कि 'महाराज ! मन तो हरेक जगह चला जाता है !' तो संतने कहा कि 'मनमें कभी वाइसरायकी चाय पीनेका संकल्प होता है क्या ?' 'नहीं होता।' 'क्यों नहीं होता ?' क्योंकि वहाँ हमने सम्बन्ध जोड़ा ही नहीं। अतः जहाँ आपने सम्बन्ध नहीं जोड़ा, वहाँ मन नहीं जाता। जहाँ आपने सम्बन्ध जोड़ा है, वहीं मन जाता है। आप सम्बन्ध छोड़ दो तो मन वहाँ जाना छोड़ देगा। सब काम खुदका ही किया हुआ है—

आप कमाया कामड़ा, किणने दीजै दोष।
खोजेजी री पालड़ी, काँदे लीनी खोस॥*

अगर खुदका पक्का विचार होगा तो उसको खुद ही मिटा दोगे। अगर उसको पूरा मिटाना चाहते हो, पर अपनी शक्तिसे वह मिटता नहीं तो ऐसी अवस्थामें आप रो दोगे। यह विद्या हम सबने

---

*अपने ही द्वारा किये गये काममें किसको दोष दें ! 'खोजेजी' नामक एक ठाकुरके गाँव पालड़ीको लोग 'खोजेजीकी पालड़ी' कहकर पुकारा करते थे। एक बार खोजेजीके गाँवमें एक बहुत बड़ा काँदा (प्याज) पैदा हुआ। उसको वे राजाके पास दिखानेके लिये ले गये। राजाके पास ले जानेसे उस गाँवकी 'काँदेकी पालड़ी' नामसे प्रसिद्धि हो गयी और लोग उस गाँवको 'खोजेजीकी पालड़ी' न कहकर 'काँदेकी पालड़ी' कहकर पुकारने लग गये।

बालकपनमें काममें ली है। बालकपनमें कौन-सा काम रोनेसे नहीं हुआ ! रोनेसे सब काम हुए। छोटा बच्चा रो करके अपने मनकी बात पूरी करा लेता है। यह रोना आपके, हमारे सबके काममें लिया हुआ उपाय है। अतः भगवान्‌के आगे रो पड़ो, तो भगवान्‌को झख मारकर आना पड़ेगा। हम भगवान्‌के प्यारे-से-प्यारे बच्चे हैं। अगर हम बेचैन होकर रो पड़ें तो भगवान्‌की ताकत नहीं है कि हमारी उपेक्षा कर दें; कर ही नहीं सकते !

हम संसारके भोगोंको चाहते हैं, उनके संग्रहको चाहते हैं, तो ये चीजें रोनेपर भी नहीं मिलेंगी। प्रारब्धके अनुसार ये चीजें मिलनी होंगी तो मिलेंगी, नहीं मिलनी होंगी तो नहीं मिलेंगी। परंतु भगवान्‌के लिये रोना होगा तो उसको भगवान् सह नहीं सकेंगे। भगवान् संसारके दुःखकी परवाह नहीं करते। जो मनुष्य संसारका सुख चाहता है, वह तो एक प्रकारसे दुःख ही चाहता है। भगवान् मानो कहते हैं कि पहले मिला हुआ दुःख काफी है, और दुःख लेकर तू क्या करेगा ! इसलिये सांसारिक सुख माँगनेपर और उसके लिये रोनेपर भी भगवान् सांसारिक सुख दे ही दें—यह नियम नहीं है।

एक सज्जन थे। उनकी स्त्री बीमार हो गयी तो उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की। परंतु उनकी स्त्री मर गयी, तो उन्होंने भगवान्‌की आस्था छोड़ दी। उनकी परीक्षामें भगवान् फेल हो गये; क्योंकि प्रार्थना करनेपर भी भगवान्‌ने हमारा दुःख नहीं मिटाया, स्त्रीकी रक्षा नहीं की। परंतु मनुष्य यह विचार नहीं करता कि पहले दुःख ज्यादा था, उसे कम किया तो हर्ज क्या हुआ ? परंतु यह बात अक्लमें नहीं आती। मनुष्य अपनी मनचाही वस्तु ही माँगता रहता है। अगर आपमें आध्यात्मिक लगन हो और उसके लिये आप रो पड़ो, तो भगवान् उसी समय उसकी पूर्ति कर देंगे। कारण कि वे जानते हैं कि यह सच्ची बातके लिये रोता है। जो झूठी बातके लिये रोता है, उसकी कौन परवाह करे ? वह तो पागल है, बेअक्ल है, मूर्ख है !

संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखे, तो भी मनमें 'यह अपना है'—ऐसा भाव है तो यह भोग है। कारण कि संसारसे अपनापन छूटता है तो दुःख होता है। संसारसे अपनापन टिकनेवाला नहीं है। हम शरीरको अपना मानते हैं तो क्या उसके साथ हमारा सम्बन्ध सदा बना रहेगा ? शरीर बना रहे—यह इच्छा ही मनुष्यको तंग कर रही है। शरीर सदा रहनेवाला तो है नहीं, पर 'वह मेरा है'—इस भावसे एक सुख मिलता है, यह सुख ही आफतमें डालनेवाला है। यह साधकके कामकी बहुत मार्मिक बात है।

यह संसार सब-का-सब छूटनेवाला ही है; परंतु ऐसा जानते हुए भी इसको छोड़नेमें असमर्थता मालूम देती है। पर इस असमर्थता, कठिनताके आगे हार स्वीकार मत करो। घबरा जाओ तो भगवान्‌से प्रार्थना करो। चलते-फिरते कहो कि 'हे नाथ ! क्या करूँ ! मेरेसे तो कुछ बनता नहीं !' जितना संयोगजन्य सुख लिया है, उससे सवा गुणा अधिक दुःख हो जाय तो संसारसे माना हुआ सम्बन्ध छूट जायगा। इसलिये संसारमें दुःखके समान उपकारी कोई है ही नहीं। पर वह दुःख भीतरसे होना चाहिये। परिस्थितिजन्य दुःख बाहरसे आता है। पुत्र नहीं है, धन नहीं है, मान नहीं है, यह नहीं है, वह नहीं है—ये सब बाहरके दुःख हैं। ये नकली दुःख हैं, असली दुःख नहीं हैं। असली दुःख भीतरसे होता है। अपनी वास्तविक स्थिति नहीं हो रही है, भगवान्‌से प्रेम नहीं हो रहा है, भगवान्‌के दर्शन नहीं हो रहे हैं, संसारका आश्रय नहीं छूट रहा है—इस प्रकार भीतरसे जो दुःख होता है, जलन होती है, उसको भगवान् सह नहीं सकते।

भगवान्‌का स्वभाव है—'**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि**' अर्थात् भगवान् भक्तके हितके लिये कठोरतामें तो वज्रसे भी कठोर हैं (वज्र पड़े तो पर्वतके भी टुकड़े-टुकड़े कर दे, ऐसे वज्रसे भी कठोर हैं), पर कोमलतामें वे पुष्पसे भी कोमल है ! संतोंके लिये आया है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

(मानस ७। १२५। ४)

मक्खन तो अपने ही तापसे पिघल जाता है, पर सन्त दूसरेका दुःख देखकर पिघल जाते हैं। जब सन्त दूसरेका दुःख सह नहीं सकते, तब सन्तोंके इष्ट भगवान् दूसरेका दुःख कैसे सह सकते हैं ? भगवान्‌का ही तो स्वभाव सन्तोंमें आता है। भगवान् बड़े भारी शूरवीर हैं, परंतु दूसरेके असली दुःखको सहनेमें बड़े कायर हैं। इसमें उनकी शूरवीरता रद्दी हो जाती है। लोग क्या कहेंगे, क्या नहीं कहेंगे, प्रशंसा होगी या निन्दा होगी—इस बातको वे कुछ नहीं गिनते। गोपियाँ कहती हैं कि 'लाला, तुम नाचो तो हम तुम्हें छाछ देंगी' तो भगवान् नाचने लग जाते हैं। जिनकी स्फुरणामात्रसे अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न और लीन होते हैं, वे भगवान् छाछके लिये गोपियोंके आगे नाचने लग जाते हैं ! ऐसा नहीं कि मेरी कितनी बेइज्जती होगी। वे भगवान् क्या आज बदल गये ? यदि हम संसारका आश्रय न छूटनेसे दुःखी हो जायँ, तो क्या वे हमारा दुःख सह सकते हैं ? नहीं सह सकते। उनकी कृपासे हमारा संसारका आश्रय छूट जायगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

२. प्राप्त और प्रतीति

दो वस्तुएँ हैं—प्राप्त और प्रतीति। इन दोनोंमें फरक है। प्राप्त 'परामात्मा' और प्रतीति 'संसार' है। जो प्राप्त है, वह तो दीखता नहीं और जो प्रतीत हो रहा है, वह रहता नहीं।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता है, अपना होनापन है, यह प्राप्त है। कारण कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि और मूर्च्छा—इन अवस्थाओंमें अपने सत्ताका कभी भी अभाव नहीं होता। परंतु यह सत्ता दीखती नहीं। जो शरीर और संसार दिखायी दे रहे हैं, उनकी केवल प्रतीति हो रही है, वास्तवमें उनकी सत्ता नहीं है।

जो प्राप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता। वह सबको सदा ही प्राप्त है। परंतु उसकी प्रतीति नहीं होती अर्थात् उसका ज्ञान 'इदंता' से नहीं होता। जैसे आँखसे संसार दीखता है, पर आँखको किससे देखें ? ऐसे ही जो सबको जाननेवाला है, सबका आधार है, सबका प्रकाशक है, उसको किससे देखें ? **'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक० २।४।१४)।

परन्तु जैसे जिससे यह संसार दिखायी देता है, वही आँख है, ऐसे ही जिसकी सत्तासे यह संसार प्रतीत हो रहा है, जिसके आधारपर संसार टिका हुआ है, जिसके प्रकाशसे संसार प्रकाशित हो रहा है, वही प्राप्त (परमात्मतत्त्व) है।

जो प्रतीत होता है, वह संसार कभी एकरस रहता ही नहीं।

वह प्रतिक्षण बदल रहा है। यह कोई अपरिचित बात नहीं है, सीधी-सादी सबके प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। यदि संसार रहनेवाला होता तो फिर वह बदलता कैसे ? परन्तु इस बातको जानते हुए भी हम इसे मानते नहीं, प्रत्युत संसारको 'है' मान लेते हैं। जिस 'है' से यह संसार प्रकाशित हो रहा है, जिस 'है' के आधारपर यह दीख रहा है, उसको प्राप्त करनेमें बड़ी कठिनता मान ली। बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो नित्यप्राप्त है, उसको अप्राप्त मान लिया और जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसको प्राप्त मान लिया।

जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

(मानस १। ११७। ४)—परमात्माकी सत्तासे ही यह जड़ माया (संसार) मूढ़ताके कारण सत्यकी तरह दीखती है। मूढ़ताके कारण यह सत्य भले ही दीखे, पर वास्तवमें सत्य है नहीं। इस संसारको देखनेवाली इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और दीखनेवाला संसार—ये दोनों एक ही जातिके हैं। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिका प्रकाशक जीवात्मा और संसारमात्रका प्रकाशक परमात्मा—ये दोनों भी एक ही जातिके हैं। जीवात्मा और परमात्मा नित्यप्राप्त हैं; क्योंकि ये नित्य रहते हैं तथा शरीर और संसार नित्य ही अप्राप्त हैं; क्योंकि ये प्रतिक्षण बदलते हैं। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, बह रहा है, वह टिकेगा कैसे ? टिक सकता ही नहीं, प्रत्यक्ष बात है। आपका जो बचपन था, वह कहाँ गया ? पहले जो परिस्थिति थी, वह कहाँ गयी ? यह सब-का-सब 'नहीं' में ही भरती हो रहा है। परंतु जो 'नहीं'में भरती होनेवालेको जानता है, वह 'नहीं'में भरती कैसे होगा ? वह तो है ही। यदि वह नहीं हो तो फिर 'नहीं'को जानेगा कौन ? जो 'नहीं'को जाननेवाला है, उसकी प्राप्तिके लिये क्या करें ? कुछ नहीं करें। कुछ नहीं करनेका अर्थ आलस्य, अकर्मण्यता, प्रमाद नहीं है। कुछ नहीं करनेका अर्थ है—जो 'है' है, उसमें स्थित हो जाय। गीताने कहा है—'**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्**।' (६। २५)। तात्पर्य है कि जो

आत्मा सर्वत्र गया हुआ है (**'अतति सर्वत्र गच्छति इति आत्मा'**) अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण है, उसमें स्थित हो करके कुछ भी चिन्तन न करे। कारण कि परमात्माका चिन्तन करोगे तो अपनी स्थितिसे नीचे आ जाओगे। परमात्माको अपनेसे अलग माननेपर ही चिन्तन होगा, क्योंकि चिन्तनमें जिसका चिन्तन किया जाय, वह और चिन्तन करनेवाला—दोनों अलग-अलग होते हैं। इसलिये 'है' में स्थित होकर चुप हो जायँ—यह युक्ति बहुत बढ़िया है। चुप होनेसे 'है' में अपनी स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव हो जायगा। इस स्वतःसिद्ध स्थितिको गीताने '**स्वस्थः**' (१४। २४) पदसे कहा है। वास्तवमें सभी मनुष्य '**स्व**' में ही स्थित रहते हैं, पर भूलसे अपनी स्थिति 'पर'-(शरीर-) में मान लेते हैं।

गीताने कहा है—'**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते** (१३। २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें हेतु बनता है। कौन-सा पुरुष सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है? **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्**' (१३। २१) अर्थात् प्रकृतिस्थ पुरुष ही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुखोंका भोक्ता बनता है। वह सुख-दुःखमें सम कब होता है? '**स्व**' में स्थित होनेपर। 'स्व' में स्थित होनेमें भी क्या कोई मेहनत करनी पड़ती है? 'स्व'में स्थित तो हैं ही। इसलिये कोई भी चिन्तन न करें। इस अवस्थामें जितना ठहर सको, उतना ठहर जाओ। कोई स्फुरणा पैदा हो तो उसको सत्ता न दो; वह अपने-आप नष्ट हो जायगी। पैदा होनेवाली चीज नष्ट होनेवाली होती है। पैदा होनेके बाद खास काम नष्ट होना ही है। अतः नष्ट होनेवाली चीजका क्या ख्याल करें? आ गयी तो आ गयी, चली गयी तो चली गयी। लहर उठ गयी, फिर शान्त हो गयी। इसमें राजी और नाराज क्या हों? आयी हुई चीज जाती हुई दीख जाय तो क्या अपराध हो गया? उसको अच्छी और मन्दी समझना ही फँसना है। वह आयी है तो उसको जाने दो। उसकी उपेक्षा करो, उससे उदासीन रहो।

लोग मनको रोकनेके लिये बहुत मेहनत करते हैं, पर मन रुकता नहीं। मनको रोकना नहीं है। मनको न तो रोकना है और न चलाना है। मन जैसा है, वैसा ही छोड़ दो; उसकी उपेक्षा कर दो, उदासीन हो जाओ। फिर संकल्प-विकल्प आप-से-आप मिट जायँगे। वे तो आप-से-आप ही मिट रहे हैं। जान-बूझकर उनको मिटानेकी आफत क्यों मोल लेते हो ? उनको मिटानेकी चेष्टा करना ही उनको सत्ता देना है।

भगवान्‌ने अपनी तरफसे कहीं ऐसा नहीं कहा कि मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास करना चाहिये, प्रत्युत '**शनैः शनैरुपरमेत्**' (६। २५) पदोंसे उपराम होनेके लिये कहा है। मनको पकड़नेके विषयमें अर्जुनके पूछनेपर ही भगवान्‌ने उनको बताया कि अभ्यास और वैराग्यसे यह मन पकड़ा जाता है (६। ३३—३५)। अर्जुनने दो श्लोकोंमें प्रश्न किया और भगवान्‌ने दो श्लोकोंमें ही उत्तर दे दिया। इतना थोड़ा भगवान् किसी प्रश्नके उत्तरमें बोले ही नहीं। दो श्लोकोंमें भी भगवान्‌ने केवल आधे श्लोकमें ही उत्तर दिया और आधे श्लोकमें अर्जुनकी बातका समर्थन किया। फिर भगवान्‌ने बताया कि मनको पकड़नेमात्रसे मुक्ति नहीं होती, मनको वशमें करना चाहिये—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(६। ३६)

'जिसका मन वशमें नहीं है, उच्छृङ्खल है अर्थात् सांसारिक भोगोंमें जिसकी रुचि है, उसके द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है। परंतु जिसका मन वशमें है, ऐसे यत्न करनेवाले साधकको योग प्राप्त हो सकता है।' मनको वशमें करनेका अर्थ यह नहीं है कि मनको मैं पकड़ लूँ, एकाग्र कर लूँ। मनके वशमें न होना ही मनको वशमें करना है। इसी तरह भगवान्‌ने इन्द्रियोंके तथा राग-द्वेषके वशमें न होनेकी बात कही है—'**रागद्वेषवियुक्तैस्तु....प्रसादमधिगच्छति॥**' (२। ६४);

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे....परिपन्थिनौ ॥' (३ । ३४) । वशमें न होनेका अर्थ है कि उसके कहनेके अनुसार काम न करे और उसकी दशा देखकर चिन्तित न हो । वह ज्यों बहता है, त्यों बहता रहे । स्वयं उससे अलग रहे, तटस्थ रहे । वास्तवमें आप उससे तटस्थ ही हो । आप उसके साथ रहते नहीं हो । वह तो बदलता है, पर आप नहीं बदलते हो । आप बिलकुल उससे अलग हो । इस तरह उसको अपनेसे अलग जानना है ।

मनके चंचल होनेसे आपका क्या बिगड़ गया ? आप तो ज्यों-के-त्यों हो और वह बह रहा है । यह भी एक तमाशा है । मनको ठीक करनेमें कई वर्ष लग जाते हैं, पर ठीक होता नहीं । ठीक कैसे हो ? वह ठीक होनेवाला है ही नहीं । आप तो उलटे उसको बल देते हो, उसको चंचल बनाते हो और कहते हो कि मनको रोकते हैं । संसारको याद करते हो और कहते हो कि भगवान्‌का पूरा भजन-ध्यान करते हैं । एकान्तमें घण्टाभर बैठे, तो उसमें कितनी देर भगवान् याद आये ? भगवान्‌को तो याद करना पड़ता है, पर संसार आप-से-आप याद आता है । इस विषयमें एक बात बड़ी शान्तिसे समझनेकी है कि जो आप-से-आप याद आता है, उसकी आपपर जिम्मेवारी नहीं होती । अतः जो आप-से-आप याद आता है, उसमें मुफ्तमें ही क्यों उलझते हो ? स्फुरणा आप-से-आप उत्पन्न होती है और आप-से-आप शान्त हो जाती है, आप क्यों आफतमें पड़ते हो ? मनुष्यकी जिम्मेवारी करनेपर होती है । जिसको आप करते ही नहीं, प्रत्युत जो आप-से-आप होता है, उसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है । आप जवानसे बूढ़े हो गये, तो क्या आपपर इसकी जिम्मेवारी है कि आप बूढ़े क्यों हो गये ? आपने गलती क्यों की ? ऐसे ही आप संसारको याद नहीं करते, पर संसार आप-से-आप याद आता है तो इसकी जिम्मेवारी आपपर नहीं है । इसलिये आप अपनी तरफसे कुछ भी चिन्तन न करें—**'न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।'** चिन्तन आ जाय, तो वह जैसे आया

है, वैसे ही चला जायगा। आप उसमें कुछ दखल न करें। यह बहुत ही बढ़िया युक्ति है। आपके विश्वासके लिये कहता हूँ कि हमारेको तो यह युक्ति बहुत वर्षोंके बाद मिली है। आप तो इस युक्तिको अभी ही काममें ले लो। मनकी उपेक्षा कर दो। बस, आप ठीक ठिकाने आ गये। मनके साथ मिलकर उसको एकाग्र करनेकी चेष्टा करना इतना बढ़िया उपाय नहीं है। कारण कि ऐसा करनेसे उसको सत्ता मिलेगी, उसको महत्त्व मिलेगा। जो है ही नहीं, उसको मिटानेकी चेष्टा करनेका अर्थ है—उसको 'है' मानना।

चिन्तन या तो भूतकालका होता है या भविष्यकालका। वर्तमानका चिन्तन नहीं होता। अतः जो वर्तमानमें है ही नहीं उसको 'है' मान लिया—यही तो गलती की है। उसको 'है' मानकर फिर उसको मिटाते हो तो यह मिटाना नहीं हुआ, प्रत्युत उसको दृढ़ करना हुआ। जो घटना बीत गयी, वह अब है ही नहीं और जो घटना भविष्यमें हो सकती है, वह भी अब नहीं है। जो अभी है ही नहीं, उसको तो पकड़ते हो, उससे युद्ध करते हो, पर जो परमात्मा अभी है, उसकी तरफ देखते ही नहीं! वर्तमानमें जो केवल परमात्मा ही है, उसको तो मानते ही नहीं और जो वास्तवमें है ही नहीं, उसको मान लिया। वास्तवमें वर्तमानकालकी सत्ता ही नहीं। भूत और भविष्यकी संधिको ही वर्तमान कह देते हैं। वर्तमान तो एकमात्र परमात्मा ही है। भगवान् कहते हैं—

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

(गीता ७। २६)

'जो प्राणी भूतकालमें हो चुके हैं, जो वर्तमानमें हैं और जो भविष्यमें होंगे उन सबको मैं जानता हूँ, पर मेरेको कोई नहीं जानता।'

यहाँ '**अहं वेद**' पदोंमें केवल वर्तमानकालका प्रयोग करनेका तात्पर्य है कि परमात्माके लिये सब कुछ वर्तमान ही है। अतः

वर्तमानमें सत्तारूपसे एक परमात्मा ही है। अब उसका चिन्तन क्या करें ? उसमें ही पूरे डूबे रहें। वह हमारा है, हम उसके हैं। वह हमारेमें है—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत**' (गीता १३। २)। अब उसकी प्राप्तिमें कठिनता किस बातकी ? उसकी प्राप्तिके समान सुगम काम कोई है ही नहीं। पर सुगम भी तब कहा जाय, जब कुछ करना पड़े। जब कुछ करना ही न पड़े, तब उसको सुगम भी कैसे कहें ? उसको कठिन माना है इसलिये कठिनताका भाव दूर करनेके लिये कहते हैं कि यह तो बड़ा सुगम है !

परमात्मा है और सदा ही प्राप्त है—इसपर दृढ़ रहना है। चाहे कितनी ही उथल-पुथल हो जाय, वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। संसार तो निरन्तर बहता है, पर वह परमात्मा 'है' रूपसे वही रहता है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

३. मैं-मेरापन कैसे मिटे ?

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है—यह मान्यता ही खास भूल है। यही मूल भूल है। आप विचार करो कि शरीर मिला है और मिली हुई चीज अपनी नहीं होती। अपनी चीज सदा ही अपनी रही है, कभी बिछुड़ती नहीं; शुरूसे अन्ततक अपनी रहती है। परंतु मिली हुई चीज सदा साथ नहीं रहती, बिछुड़ जाती है; अतः वह अपनी कैसे हो सकती है ? स्वयं पहले भी था और पीछे भी रहेगा, बीचमें शरीर मिला तो स्वयं कैसे हुआ ?

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(गीता १३।१)

अर्थात् 'यह' रूपसे कहे जानेवाले शरीरको 'क्षेत्र' कहते हैं और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको ज्ञानीजन 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहते हैं। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ—ये दो चीजें हैं। जैसे 'मैं' खम्भेको जानता हूँ तो खम्भा जाननेमें आनेवाली चीज हुई और मैं खम्भेको जाननेवाला हुआ। जो जाननेवाला होता है, वह जाननेमें आनेवाली वस्तुसे अलग होता है—यह नियम है। हम शरीरको जानते हैं; अतः शरीरसे अलग हुए। हम कहते हैं—यह मेरा पेट है, यह मेरा पैर है, यह मेरी गर्दन है, यह मेरा मस्तक है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन है, यह मेरी बुद्धि है आदि-आदि। जो 'यह' है, वह मैं (स्वरूप) कैसे हो सकता है ? 'अहम्' अर्थात् मैं-पन भी 'यह' है। जिस प्रकाशमें शरीर-

इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि दीखते हैं, उसी प्रकाशमें 'अहम्' भी दीखता है। जो दीखनेवाला है, वह अपना स्वरूप कैसे हो सकता है?

मैं यह शरीर नहीं हूँ—इस बातको दृढ़तासे मान लो। मैं न कभी शरीर था, न कभी शरीर हो सकता हूँ, न शरीर रहूँगा और न अभी वर्तमानमें मैं शरीर हूँ। मैं शरीरसे बिलकुल अलग हूँ। इसकी पहचान क्या है? अगर मैं शरीरसे अलग न होता, शरीरसे मेरी एकता होती तो मरनेपर शरीर भी मेरे साथ चला जाता अथवा शरीरके साथ मैं भी रह जाता। परन्तु न तो मेरे साथ शरीर जाता है और न मैं शरीरके साथ रहता हूँ, फिर शरीर मैं कैसे हुआ? जैसे, मकानसे मैं चला जाता हूँ तो मकान मेरे साथ नहीं जाता। मकान यहीं रहता है और मैं चला जाता हूँ। अतः मकान और मैं दो हैं, एक नहीं। इसी तरह शरीर और मैं दो हैं, एक नहीं—ऐसा ठीक बोध होनेपर अहंता मिट जाती है।

मैं शरीर हूँ, शरीर मेरा है और शरीर मेरे लिये है—ये तीन खास भूलें हैं। वास्तवमें न तो मैं शरीर हूँ, न शरीर मेरा है और न शरीर मेरे लिये ही है। शरीर मेरे लिये कैसे नहीं? मैं नित्य-निरन्तर रहनेवाला हूँ और शरीर नित्य-निरन्तर बदलनेवाला है। यह शरीर नित्य-निरन्तर मेरेसे वियुक्त हो रहा है। कोई ऐसा क्षण नहीं है, जिस क्षणमें यह मेरेसे वियुक्त न होता हो। मनुष्य मानता है कि जब शरीर मर जाता है, तब शरीरका वियोग होता है; अतः जन्मसे मृत्युतक शरीर हमारा रहा। यह बहुत स्थूल दृष्टिसे मानना है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो शरीर प्रतिक्षण ही मर रहा है। मान लो कि किसीकी आयु सौ वर्षकी है और वह एक वर्षका हो गया, तो क्या अब सौ वर्ष बाकी रहे? अब तो निन्यानबे वर्ष ही बाकी रहे। दृष्टि इस तरफ होती है कि बालक बढ़ रहा है—बिलकुल गलत बात है, बालक तो घट रहा है। हम भी यही सोचते हैं कि हम बढ़ रहे हैं, हम जी रहे हैं—बिलकुल झूठी बात है; सच्ची बात तो यह है कि हम मर रहे हैं। जैसे मरनेके बाद शरीरसे वियोग हो जाता है—ऐसा हम मानते हैं ऐसे

ही हमारा शरीरसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। अतः जो हरदम वियुक्त होता है, वह 'मेरे लिये' कैसे हो सकता है ? विचार करें कि शरीरपर मेरा आधिपत्य चलता है क्या ? अगर चलता है तो शरीरको बीमार मत होने दो, कमजोर मत होने दो, कम-से-कम मरने तो दो ही मत। जब इसपर हमारा आधिपत्य चलता ही नहीं, तो फिर यह 'मेरा' कैसे हुआ ? बालकपनमें जो मैं था वही मैं अब भी हूँ। अपना होनापन तो निरन्तर वैसा-का-वैसा दीखता है, पर शरीर निरन्तर बदलता है; अतः शरीर 'मैं' कैसे हुआ ?

शरीरकी मात्र संसारके साथ एकता है। जिन पाँच तत्त्वोंसे यह संसार बना है। उन्हीं पाँच तत्त्वोंसे यह शरीर बना है—

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। २)। शरीर हमें संसारकी सेवाके लिये मिला है, अपने लिये नहीं। हमारेको शरीर क्या निहाल करेगा ? शरीर हमारे क्या काम आयेगा ? शरीरको अपना और अपने लिये न मानकर प्रत्युत संसारका और संसारके लिये ही मानकर उसको संसारकी सेवामें लगा दें—यही हमारे काम आयेगा।

आपको शंका हो सकती है कि इस शरीरसे हम जप करते हैं, ध्यान करते हैं, चिन्तन करते हैं, सेवा करते हैं, तो यह शरीर हमारे ही तो काम आया ? वास्तवमें शरीर आपके काम नहीं आया। कारण कि आपके स्वरूपतक कोई क्रिया और पदार्थ पहुँचता ही नहीं। जप, ध्यान आदि करनेसे विवेक विकसित होता है और अन्तःकरणमें संसारका महत्त्व मिटता है। विवेककी पूर्ण जागृति होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होते ही नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जाता है। कारण कि नित्यप्राप्त परमात्मतत्त्वका अनुभव जड शरीर-संसारके द्वारा नहीं होता, प्रत्युत शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर होता है। शरीर-संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद विवेकसे होता है, क्रियासे नहीं। अतः शरीर हमारे

काम नहीं आया, शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद ही हमारे काम आया !

शरीरको अपने लिये मानेंगे तो शरीरसे सम्बन्ध जुड़ेगा। हम परमात्माका चिन्तन करते हैं तो उसमें मन-बुद्धि लगाते हैं। मन-बुद्धि प्रकृतिके हैं कि आपके हैं ? ये तो प्रकृतिके हैं। प्रकृति 'पर' है और आप स्वयं 'स्व' हैं। अतः परमात्माका चिन्तन करनेमें आपको पराधीन होना पड़ेगा, जडका सहारा लेना पड़ेगा। ध्यान लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा। समाधि लगाओ तो जडका सहारा लेना पड़ेगा, परन्तु चिन्मयतामें स्थिति जडताके त्यागसे होगी। जडताकी सहायता लेनेसे, जडताकी आवश्यकता समझनेसे उसका त्याग कैसे करेंगे ? जब शरीर आदि जड चीजोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे ही कल्याण होगा तो फिर ये शरीर आदि हमारे क्या काम आये ?

इस बातको ठीक तरहसे समझें कि शरीर हमारे लिये कैसे हुआ ? आप भजन-ध्यान करो, दान-पुण्य करो, सेवा करो, पर ये सब कल्याण करनेवाले तब होंगे, जब आपका यह भाव होगा कि ये सब मेरे नहीं हैं और मेरे लिये नहीं हैं। जब ये मेरे और मेरे लिये नहीं हैं, तो फिर इनको करें ही क्यों ? इनको इसलिये करना है कि हमने दूसरोंसे लिया है। शरीर भी दूसरोंसे मिला है। अन्न-जल भी दूसरोंसे लिया है। हवा भी दूसरोंसे मिलती है। हम रास्तेपर चलते हैं तो सड़क भी दूसरोंसे मिली है। छाया भी दूसरोंसे मिली है। मकान भी दूसरोंसे मिला है। दूसरोंसे मिली हुई चीज दूसरोंकी सेवामें लगा देनी है, जिससे कर्जा उतर जाय। पुराना कर्जा उतार देना है और नया कर्जा लेना नहीं है। यह हमारे काम आ जाय, यह हमारी बात माने, हमारा कहना माने—यह इच्छा रहेगी तो नया कर्जा चढ़ता रहेगा। जड आपके काम कैसे आयेगा ? आप तो चेतन हो। तो हम क्या करें ? जड़तासे पिण्ड छुड़ानेके लिये चाहे संसारकी सेवा करें, चाहे भगवान्‌की सेवा करें, अपने लिये कुछ न करें। गीतामें आया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥

(१७ । २०)

'दान देना कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अनुपकारीको दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ।'

—इस श्लोकमें व्याकरणकी एक आश्चर्यकी बात आयी है। भगवान्‌ने '**अनुपकारिणे**' पदमें चतुर्थी विभक्ति दी है और '**देशे काले च पात्रे च**' पदोंमें सप्तमी विभक्ति दी है। कम-से-कम '**पात्रे च**' में तो सप्तमी नहीं कहनी चाहिये थी, '**पात्राय**' कहना चाहिये था। वहाँ सप्तमी कैसे हो गयी ? इसका तात्पर्य क्या है, पूरा तो भगवान् जानें और व्यासजी महाराज जानें, अपनेको तो पता नहीं। हम कोई विद्वान् तो हैं नहीं, परंतु हमारी धारणामें '**देशे काले च पात्रे च**' का अर्थ है—'देश, काल और पात्रकी प्राप्ति होनेपर **(प्राप्ते सति)**'। '**अनुपकारिणे**' का अर्थ यह नहीं है कि उपकार करनेवालेको दान मत दो, प्रत्युत जिसने हमारा उपकार किया है, उसको देनेमें दान मत मानो। 'अनुपकारी' का अर्थ है—जिसने पहले कभी हमारा उपकार नहीं किया, अभी भी उपकार नहीं करता है और भविष्यमें भी उससे किञ्चिन्मात्र भी उपकारकी आशा नहीं है, ऐसे अनुपकारीको निष्कामभावसे दान देना 'सात्त्विक दान' है। तात्पर्य यह हुआ कि देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर अपना सम्बन्ध न रखते हुए दान दिया जाय। अगर उपकारीको दान दिया जायगा, तो दानके साथ सम्बन्ध जुड़नेसे वह 'राजस दान' हो जायगा—'**यत्तु प्रत्युपकारार्थं**·····**तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥**' (१७ । २१)। कारण कि राग अर्थात् सम्बन्ध जोड़ना रजोगुणका स्वरूप है—'**रजो रागात्मकं विद्धि**' (१४ । ७)। दानके साथ सम्बन्ध न रहनेसे 'सात्त्विक दान' वास्तवमें दान नहीं है, यह तो त्याग है।

जैसे दानका हमारे साथ सम्बन्ध न रहे ऐसे ही जप-ध्यानका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे, सेवाका भी हमारे साथ सम्बन्ध न रहे। किसीकी सेवा करके हम समझें कि हमने बड़ा काम किया, तो यह गलती है। कारण कि हमारे पास जो कुछ है, उसपर उसीका हक लगता है। हमारे पास जो शक्ति है वह शक्ति समष्टिकी है। समष्टिसे अलग कोई शक्ति हमारे पास है क्या ? विद्या, बुद्धि, योग्यता, अवस्था आदि जो कुछ भी हमें प्राप्त है, वह हमें समष्टिसे मिली है। समष्टिकी चीज समष्टिकी सेवामें लगा दी तो क्या अहसान किया ? उसीकी चीज उसीकी सेवामें लगा देना ईमानदारी है। उस चीजके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेंगे तो मैंपन आयेगा। मैंपन आनेसे मेरापन भी आयेगा और 'मेरे लिये' भी आयेगा।

न तो यह मैं हूँ और न यह मेरा है, जो 'यह' होता है, वह 'मैं' नहीं होता और जो 'मैं' होता है वह 'यह' नहीं होता। शरीर 'यह' है, मन 'यह' है, बुद्धि 'यह' है, प्राण 'यह' है, मैंपन भी 'यह' है; अतः ये सब हमारा स्वरूप कैसे हुए ? शरीर-संसारके साथ माना हुआ मैं-मेरेपनका सम्बन्ध ही जन्म-मरणका कारण है, अतः इस सम्बन्धको जल्दी-से-जल्दी मिटा देना चाहिये।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

४. संसारमें रहनेकी विद्या

अगर हमें संसारमें रहना आ जाय तो हमारी मुक्ति हो जाय ! संसारमें रहना एक विद्या है। उस विद्याको हम ठीक समझ लें और काममें लायें तो बेड़ा पार है ! किसी भी काममें लगो, उस कामको करनेकी विद्या आनी चाहिये। जैसे, कोई रसोई बनाता है, पर उसे रसोई बनानी नहीं आती, तो रसोई नहीं बनती। अगर उसे रसोई बनानी आती है, पर वह रसोई बनाता ही नहीं, तो रसोई नहीं बनती। इसलिये किसी भी कार्यमें ज्ञान और कर्म—दोनोंकी आवश्यकता है।

संसारमें रहनेकी विद्या क्या है—इसको समझना है। जैसे, एक मनुष्य है और उसके माता-पिता, स्त्री-पुत्र, भाई-भौजाई आदि हैं, तो वह उनके साथ केवल उनके हितके लिये ही व्यवहार करे। केवल उनकी सेवा करे, उनको सुख पहुँचाये और अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा न करे। अगर वह अपने सुखकी इच्छा करता है, तो उसको संसारमें रहना आया नहीं। आप अपने कुटुम्बमें रहते हैं तो कुटम्बकी सेवा करते हैं, पर जब बाहर चले जाते हैं, तब वहाँ सेवा नहीं करते, प्रत्युत सेवा लेते हैं। कोई हमें मार्ग बता दे, हमारी सहायता कर दे, हमारेको रहनेकी जगह दे दे, हमें जल पिला दे, हमारेको ऐसा कुछ दे दे, जिससे हम अपनी यात्रा ठीक तरहसे कर सकें—इस प्रकार सेवा चाहते रहनेसे हमारा कल्याण नहीं होता। हम किसीसे कुछ भी चाहते हैं तो हम पराधीन हो जाते हैं—यह पक्का सिद्धान्त है। परन्तु जहाँ हम किसीसे कुछ भी नहीं चाहते, वहाँ हम बिलकुल पराधीन

नहीं होते, प्रत्युत स्वाधीन होते हैं। संसारसे कुछ भी चाहना अपने-आपको पराधीन बनाना है। अतः अपनी चाहना तो रखें नहीं और दूसरोंकी न्याययुक्त चाहना अपनी शक्तिके अनुसार पूरी कर दें, तो हम स्वाधीन हो जायँगे।

अब प्रश्न होता है कि जब हम दूसरोंसे कुछ भी नहीं चाहते, तो फिर उनकी चाहना पूरी क्यों करें ? इसका उत्तर यह है कि उनकी चाहना पूरी करनेसे अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य आ जायगी। अगर हम अपनी चाहना पूरी करनेमें ही लगे रहेंगे, तो अपनी चाहनाके त्यागकी सामर्थ्य नष्ट हो जायगी और हम सर्वथा पराधीन हो जायँगे, पतित हो जायँगे। अगर हम उनकी सेवा करते रहेंगे, तो हम स्वतन्त्र हो जायँगे, संसारमें रहकर संसारसे ऊँचे उठ जायँगे। इसीको मुक्ति कहते हैं। भगवान् कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

(गीता ५ । १९)

अर्थात् जिनका मन साम्यावस्थामें स्थित हो गया है, उन पुरुषोंने जीवित अवस्थामें ही संसारको जीत लिया है। साम्यावस्था क्या है ? जो भी अनुकूल परिस्थिति मिले, उसमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक न हो। संसारकी मात्र परिस्थिति हमें कभी डिगा न सके, तो हमने विजय प्राप्त कर ली। यदि संसारकी अनुकूलता और प्रतिकूलता हमारेपर असर कर दिया, तो हम हार गये। अनुकूलता-प्रतिकूलता हमारेपर असर कब नहीं करेगी ? जब हम संसारमें अपने लिये नहीं रहेंगे, प्रत्युत संसारके लिये ही संसारमें रहेंगे। इस प्रकार रहनेसे हम संसारसे ऊँचे उठ जायँगे।

हमारे माता-पिता हैं, तो हम माता-पिताकी सेवा करें और उनसे कोई चाहना न रखें। उनसे चाहना क्यों नहीं रखें ? उनका दिया हुआ ही शरीर है, सामर्थ्य है। हमें जो कुछ मिला है, उन लोगोंसे ही मिला है। अतः उनसे मिले हुए शरीर, सामर्थ्य, समझ, सामग्री आदिके द्वारा उनकी ही सेवा करनी है। उनसे मिली हुई वस्तु उनको ही दे देनी है। देनेके लिये

ही हमें रहना है, लेनेके लिये नहीं। उनके लिये ही रहना है, अपने लिये नहीं। अगर हम अपने लिये नहीं रहेंगे, तो वे हमारे साथ अच्छा व्यवहार करें अथवा बुरा व्यवहार करें, उसका हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। उनकी सेवा कैसे हो जाय, उनको सुख कैसे पहुँचे, उनको आराम कैसे पहुँचे, उनका भला कैसे हो, उनका उद्धार कैसे हो, उनका कल्याण कैसे हो—केवल यही भाव रखना है।

श्रोता—ऐसा करनेसे हम तो दुःखी हो जायँगे ?

स्वामीजी—हम दुःखी तभी होंगे, जब उनसे कुछ चाहेंगे और वे नहीं करेंगे। हम उनसे कुछ चाहते ही नहीं, तो हम दुःखी कैसे होंगे ? हम तो केवल उनके सुखके लिये, उनके आरामके लिये ही रहते हैं। अतः उनको सुख पहुँचाना ही हमारा काम है।

श्रोता—अगर वे हमें दुःख पहुँचायें तो ?

स्वामीजी—वे हमें दुःख पहुँचायें तो हमारा बहुत जल्दी कल्याण होगा। हम उनकी सेवा करते हैं और वे हमें दुःख देते हैं तो इससे हमें दुगुना लाभ होगा। एक तो निष्कामभावसे उनकी सेवा करनेसे त्याग होगा और दूसरा, वे हमें दुःख देंगे तो हमारे पाप नष्ट होंगे, जिससे हमारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। तात्पर्य है कि वे हमें दुःख देंगे तो अन्तःकरणकी पुरानी अशुद्धि मिट जायगी और हम निष्काम-भावसे उनकी सेवा करेंगे तो अन्तःकरणमें नयी अशुद्धि नहीं आयेगी। इसलिये उनको सुख कैसे पहुँचे—इसके लिये संसारमें रहना है। अपने लिये कुछ चाहना हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य तो उनकी चाहना पूरी करना है। उनकी चाहना पूरी करनेमें दो बातोंका ख्याल रखना है—उनकी चाहना न्याययुक्त हो और हमारी सामर्थ्यके अनुरूप हो। अगर उनकी चाहना न्याययुक्त हो, पर उसको पूरी करना हमारे सामर्थ्यके बाहरकी बात हो तो हाथ जोड़कर उनसे माफी माँग लें कि 'हम तो समर्थ नहीं हैं, हमारे पास इतनी शक्ति नहीं है, इसलिये आप माफ करो।' अगर सामर्थ्य हो तो उनकी चाहना पूरी कर दें।

इस प्रकार संसारमें रहें।

कमलका पत्ता जलमें रहता है, पर वह जलसे भीगता नहीं। जैसे कपड़ा भीग जाता है, वैसे वह भीगता नहीं। जल उसके ऊपर मोतीकी तरह लुढ़कता रहता है। ऐसे ही अगर हम संसारमें अपने लिये न रहकर केवल दूसरोंके लिये ही रहेंगे, तो हम भी कमलके पत्तेकी तरह निर्लिप्त रहेंगे, संसारमें फँसेंगे नहीं। इसलिये संसारमें केवल दूसरोंकी सेवाके लिये ही रहें। उनसे मिली हुई चीज उनको ही देते रहें और बदलेमें कुछ भी लेनेकी इच्छा न रखें। उनकी सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और उनसे कुछ भी लेनेकी इच्छा न करनेसे नया ऋण पैदा नहीं होगा। अगर हम उनकी सेवा नहीं करेंगे तो उनका हमारेपर ऋण रहेगा और उनसे चाहते रहेंगे तो नया ऋण हमारेपर चढ़ता रहेगा।

कोई आदमी मर जाता है तो दुःख होता है। उस दुःखमें दो कारण होते हैं—एक तो उससे सुख लिया है, पर सुख दिया नहीं है और दूसरा, उससे फिर सुख लेनेकी आशा रही है। अगर हमने उससे सुख न लिया होता तो उसके मरनेसे दुःख न होता। जो हमारा अपरिचित है, जिसका हमारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, उसके मरनेसे हमें दुःख नहीं होता। जैसे, नब्बे या सौ वर्षोंका बहुत बूढ़ा आदमी मर जाय तो उससे दुःख नहीं होता। लोग तो यहाँतक कहते हैं कि उसका मरना विवाह-जैसी बात है, बड़े आनन्दकी बात है। कारण क्या है? कि अब उससे सुखकी कोई आशा नहीं रही। वह किसी तरहकी सेवा करेगा, हित करेगा—यह आशा नहीं रही। इसलिये उसके मरनेका दुःख नहीं होता। परन्तु बीस-पचीस वर्षका जवान आदमी मर जाता है तो दुःख होता है; क्योंकि उससे और सुख मिलनेकी आशा है। आशा ही दुःखोंका खास कारण है—

आशा ही परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।

(श्रीमद्भा० ११।८।४४)

उससे आशा न रखकर उसकी आशा पूर्ण करनेकी चेष्टा करें। उससे आशा न रखनेसे उसके मरनेका दुःख नहीं होगा। जैसे, वह पन्द्रह वर्षकी अवस्थासे बीमार हुआ और पचीस वर्षका हो गया। वैद्योंने, डाक्टरोंने—सबने जवाब दे दिया कि यह अब जी नहीं सकता, यह तो अब मरेगा। हमने दस वर्ष उसकी सेवा कर दी, उससे लिया कुछ नहीं और कुछ लेनेकी आशा भी नहीं, तो उसके मरनेपर दुःख नहीं होगा। कारण कि दुःख उसके मरनेका नहीं है। हम उससे जो सुख चाहते हैं, उसीका फल दुःख है।

संसारमें हम रहें, पर संसारसे सुख न चाहें, प्रत्युत सुख देते रहें। सेवा करते रहें, पर सेवा लेनेकी चाहना भीतरसे बिलकुल उठा दें तो हमें संसारमें रहना आ गया, हम मुक्त हो गये! लेनेकी इच्छाका नाम ही बन्धन है। कोई हमारी सेवा करेगा तो हम सुखी हो जायँगे—यह उलटी बुद्धि है। सेवा लेनेसे तो हम ऋणी हो जायँगे, सुखी कैसे हो जायँगे? पापी आदमीकी तो मुक्ति हो सकती है, पर ऋणी आदमीकी मुक्ति नहीं हो सकती। पापी आदमी अपने पापका प्रायश्चित्त कर लेगा अथवा उसका फल भोग लेगा तो वह पापसे मुक्त हो जायगा। परन्तु दूसरेसे ऋण लेनेवाले अथवा दूसरेका अपराध करनेवालेकी मुक्ति तभी होगी जब दूसरा उसे माफ कर दे। इसलिये जबतक हम संसारके ऋणी रहेंगे, तबतक हमारी मुक्ति नहीं होगी। जिनसे हमने सेवा ली है और जो हमारेसे सेवा चाहते हैं, उनकी निष्कामभावसे सेवा कर दें तो हम उऋण हो जायँगे।

श्रोता—हम जिनकी सेवा करेंगे, वे ऋणी हो जायँगे।

स्वामीजी—वे ऋणी नहीं होंगे। हम उनकी सेवा निष्कामभावसे करते हैं, बदलेमें उनसे कुछ लेनेकी इच्छा ही नहीं करते, तो वे ऋणी कैसे होंगे? दूसरी बात, प्राप्त वस्तुको हम अपनी नहीं मानते, प्रत्युत उन्हींकी मानकर उनकी सेवामें लगाते हैं, तो वे ऋणी कैसे बनेंगे? अतः सेवा करनेसे वे तो ऋणी बनेंगे नहीं और हम उऋण हो जायँगे,

मुक्त हो जायँगे।

कोई दूकानदार अपनी दूकान उठाना चाहता है, तो वह क्या करे ? दूसरोंसे जितना लिया है, वह सब दे दे और उसने जिसको दिया है वह अगर वापस दे दे तो ठीक है, नहीं तो छोड़ दे। ऐसा करनेसे दूकान उठ जायगी। अगर वह दिया हुआ पूरा-का-पूरा वापस लेना चाहेगा तो दूकान उठेगी नहीं; क्योंकि उसको लेनेके लिये कुछ नया माल देना पड़ेगा। इस तरह हमारा उससे लेना बाकी रहता ही रहेगा। अतः जबतक हम लेना नहीं छोड़ेंगे, तबतक दूकान नहीं उठ सकती। ऐसे ही जबतक हम संसारसे लेना नहीं छोड़ेंगे, तबतक हम उऋण नहीं हो सकते, मुक्त नहीं हो सकते। इसलिये लेनेका खाता ही उठा दें और सबको देना-ही-देना शुरू कर दें। माता-पिताको भी देना है, स्त्री-पुत्रको भी देना है, भाई-भौजाईको भी देना है, पतिको भी देना है, सास-ससुरको भी देना है, देवर-जेठको भी देना है, देवरानी-जेठानीको भी देना है। सबको देना है, सबकी सेवा करनी है और लेना कुछ नहीं है। जहाँ लेनेकी इच्छा हुई कि फँसे ! एक ग्रामीण कहावत है—**'गरज गधाने बाप करे'** अर्थात् गरज गधेको बाप बनाती है। गरज करनेसे, लेनेकी इच्छा करनेसे आदमीको इतना नीचा उतरना पड़ता है; गधेकी भी गुलामी करनी पड़ती है ! अगर लेनेकी इच्छा ही नहीं हो, तो हम भगवान्‌के भी गुलाम नहीं होते।

एक विचित्र बात है, ध्यान दें ! हम भगवान्‌के भक्त तो होते हैं, पर गुलाम नहीं होते। परन्तु कब ? जब हम भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते। जो भगवान्‌से कुछ भी लेना नहीं चाहते उन भक्तोंके लिये भगवान् कहते हैं—**'मैं तो हूँ भगतनको दास, भगत मेरे मुकुटमणी'** गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि अर्थार्थी, आर्त, जिज्ञासु और ज्ञानी (प्रेमी)—इन चारों प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी अर्थात् प्रेमी भक्त श्रेष्ठ है। उस ज्ञानी भक्तको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरेको अत्यन्त प्रिय है। चारों प्रकारके भक्त बड़े उदार हैं; परंतु ज्ञानी भक्त तो मेरा स्वरूप

ही है (७।१७-१८)। कारण यह है कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌से कुछ नहीं चाहता। अर्थार्थी, आर्त और जिज्ञासु तो भगवान्‌से कुछ-न-कुछ चाहते हैं। वे चाहते हैं तो भगवान्‌के यहाँ कोई घाटा थोड़े ही है! वे धन भी दे सकते हैं, दुःख भी दूर कर सकते हैं, तत्त्वज्ञान भी दे सकते हैं। उनमें देनेकी सामर्थ्य तो पूरी है; परन्तु उन चाहनेवाले भक्तोंका दर्जा कम हो गया!

भगवान् कहते हैं कि मैं तो देता रहूँगा, अप्राप्तकी प्राप्ति और प्राप्तकी रक्षा मैं करूँगा—**'योगक्षेमं वहाम्यहम्'** (गीता ९।२२); परंतु तू चाहना मत कर—**'निर्योगक्षेम आत्मवान् भव'** (गीता २।४५)। कितनी बढ़िया बात कही! न चाहनेसे प्रेम होता है; परन्तु चाहनेसे प्रेम नहीं होता, प्रत्युत बन्धन होता है। वह इससे चाहता है और यह उससे चाहता है, तो आपसमें प्रेम नहीं होता। दोनों एक-दूसरेसे चाहते हैं तो दोनों ही ठग हैं। दो ठगोंमें ठगाई नहीं होती। संसारसे चाहना मानो ठगाईमें जाना है। इसलिये चाहनाका त्याग करके सेवा करनी है। यही संसारमें रहनेका तरीका है।

आप सब भाई-बहन अपने घरोंमें ऐसे रहो, जैसे कोई मुसाफिर रहता है। जैसे कोई सज्जन मुसाफिर आ जाता है और रात्रिभर रहता है, तो वह कहता है कि भाई! तुम सब भोजन कर लो, जो बचे, वह मैं पा लूँगा। तुम सब अपनी-अपनी जगहमें रह जाओ, फालतू जगहमें मैं रह जाऊँगा। जो कपड़ा-लत्ता आपके कामका हो वह आप ले लो और जो फालतू हो, वह मुझे दे दो, उससे मैं निर्वाह कर लूँगा। परन्तु रात्रिमें यदि आग लग जाय, चोर-डाकू आ जायँ, कोई आफत आ जाय, बीमारी आ जाय, तो वह सबसे आगे होकर सहायता करता है। उसका भाव यह रहता है कि मैंने इनका अन्न-जल लिया है, इनके यहाँ विश्राम किया है, इसलिये इनकी सेवा करना, इनकी सहायता करना मेरा काम है। अगर वह मुसाफिर काम तो पूरा करे, पर ले कुछ नहीं, तो वह बँधेगा नहीं। सुबह होते ही चल देगा। अगर वह लेनेकी

इच्छा रखे, तो वह बँध जायगा। इसलिये सज्जनो ! सेवा करें। जो थोड़ा अन्न-जल लेना है, वह भी सेवा करनेके लिये लेना है; क्योंकि अन्न-जल नहीं लेंगे तो सेवा कैसे करेंगे ?

हमारे एक वृद्ध संत कहते थे कि संसारमें रबड़की गेंदकी तरह रहना चाहिये, मिट्टीकी लौंदेकी तरह नहीं। गेंद फुदकती रहती है, कहीं भी चिपकती नहीं। परन्तु मिट्टीका लौंदा जहाँ जाय, वहीं चिपक जाता है। अगर मनुष्य संसारमें सेवा करनेके लिये ही रहे, अपने लिये नहीं रहे तो वह संसारमें चिपकेगा नहीं, मुक्त हो जायगा। यही संसारमें रहनेकी विद्या है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

५. परमात्मा तत्काल कैसे मिलें ?

श्रोता—जल्दी-से-जल्दी उद्धार कैसे हो ?

स्वामीजी—हमारा उद्धार हो जाय—यह एक ही लालसा हो जाय तो तत्काल उद्धार हो जायगा। एक बात आप ध्यान दे करके सुनें। संसारका काम जैसे उद्योग करनेसे होता है, ऐसे ही हम समझते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति भी उद्योग करनेसे होगी। वास्तवमें यह बात नहीं है, नहीं है, नहीं है ! परमात्मा सब देशमें हैं, सब कालमें हैं, सम्पूर्ण वस्तुओंमें हैं, सम्पूर्ण व्यक्तियोंमें हैं, सम्पूर्ण घटनाओंमें हैं, सम्पूर्ण परिस्थितियोंमें हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये केवल भीतरकी लालसा होनी चाहिये। कारण कि परमात्माका निर्माण करना नहीं है, उनको बदलना नहीं है, उनको कहींसे लाना नहीं है। वे तो सब जगह और सबमें ज्यों-के-त्यों परिपूर्ण हैं। जहाँ आप कहते हैं कि 'मैं हूँ' वहाँ भी परमात्मा पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। अतः केवल लालसा होनेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

संसारकी कोई वस्तु केवल लालसासे नहीं मिलती। लालसा होगी, उद्योग करेंगे और भाग्यमें होगा, तभी वस्तु मिलेगी। जैसे, रुपये चाहिये तो रुपयोंकी लालसा हो, रुपयोंके लिये प्रयत्न किया जाय और प्रारब्धमें हो तो रुपये मिलेंगे, अगर प्रारब्धमें न हो तो इच्छा करनेपर और खूब चेष्टा करनेपर भी रुपये नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्माकी प्राप्ति केवल इच्छासे ही हो जायगी। परमात्मप्राप्तिकी इच्छा होनेपर उद्योग अपने-आप होगा, परन्तु परमात्मप्राप्ति उद्योगके अधीन नहीं है। जो वस्तु उद्योगके अधीन होती है, क्रियाजन्य होती है, वह नाशवान् होती है। जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश होता ही है। जो साधनासे

मिलेगा, वह उत्पत्तिवाला होगा; और जो उत्पत्तिवाला होगा, वह मिट जायगा, रहेगा नहीं। परन्तु परमात्मा अनुत्पन्न तत्त्व है और सदा ज्यों-का-त्यों रहता है; अतः उसकी प्राप्ति केवल लालसासे हो जाती है।

केवल परमात्मप्राप्तिकी ही लालसा हो, दूसरी कोई भी लालसा न हो—'**एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥**' (मानस ३।१०।४) दूसरी लालसा होनेसे, दूसरी तरफ वृत्ति होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें बाधा लगती है। अगर दूसरी लालसा न हो तो परमात्मप्राप्तिमें बाधा है ही नहीं, देरी है ही नहीं, दूरी है ही नहीं! दूसरी मान-बड़ाई, सुख-आराम आदिकी लालसा होनेसे ही संसारका सम्बन्ध है। दूसरी लालसा मिटते ही संसारका सम्बन्ध छूट जाता है और संसारका सम्बन्ध छूटते ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। परमात्मा तो पहलेसे ही मिला हुआ है। अन्यकी जो इच्छा है, चाहना है, वासना है, उसीसे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। संसारसे सम्बन्ध जुड़नेके कारण परमात्माका अनुभव नहीं हो रहा है।

संसारकी इच्छा करके, उद्योग करके कुछ नहीं पा सकोगे। केवल धोखा मिलेगा। परमात्मप्राप्तिसे वञ्चित रह जाओगे—इसके सिवाय और कुछ लाभ नहीं होगा। समय खाली चला जायगा, मनुष्य-शरीर व्यर्थ चला जायगा और मिलेगा कुछ नहीं; क्योंकि संसारका अभाव है। मनुष्यने अपने भीतर एक सिद्धान्त बैठा लिया है कि जो स्थिति अभी नहीं है, वह स्थिति हो जायगी तो हमने बड़ी उन्नति कर ली। यह महान् दोषकी बात है। पहले धन नहीं था, अब धन हो गया तो वह समझता है कि बड़ा भारी काम कर लिया! लोग भी कहते हैं कि पहले साधारण आदमी था, अब लखपति-करोड़पति बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! यह मूर्ख था, अब पण्डित बन गया, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसको पहले कोई जानता नहीं था, अब संसारमें इसकी बड़ी प्रसिद्धि हो गयी, तो बड़ा भारी काम कर लिया! इसका आदर कोई नहीं करता था, सब ठुकराते थे,

अब इसका आदर हो गया, तो बड़ा काम कर लिया ! वास्तवमें कुछ नहीं किया है। धूलके दो दाने जितना भी काम नहीं किया है ! जो स्थिति पहले नहीं थी, वह स्थिति अब हो भी जाय तो अन्तमें वह नहीं रहेगी। जो पहले भी नहीं थी और पीछे भी नहीं रहेगी; उसको प्राप्त करना कोई बहादुरी नहीं है। जो सब देश, काल आदिमें मौजूद है, उस परमात्माको प्राप्त करना ही बहादुरी है। वह परमात्मा सदा 'है' ही रहेगा। वह 'नहीं' कभी हो ही नहीं सकता।

आपकी स्थिति परमात्मामें है। संसारमें आपकी स्थिति है ही नहीं। आपकी स्थिति तो अटल है और संसार आपके सामने बदलता है। संसारमें आपकी स्थिति है ही कहाँ ? बालकपन बदला, जवानी बदली, वृद्धावस्था बदली, रोग-अवस्था बदली, नीरोग-अवस्था बदली, धनवत्ता बदली, निर्धनता बदली—ये सब बदलते रहे, पर आप वे-के-वे ही रहे। संसार आपके साथ कभी रह ही नहीं सकता और आप संसारके साथ कभी रह ही नहीं सकते। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं है कि संसार आपके साथ और आप संसारके साथ रह जायँ। आपकी स्थिति सदा परमात्मामें रहती है। परमात्मा सदा आपके साथ रहते हैं और आप सदा परमात्माके साथ रहते हैं। अतः परमात्माकी प्राप्ति कठिन है ही नहीं। कठिन तो तब हो, जब परमात्माकी प्राप्तिके लिये कुछ करना पड़े। जब करना कुछ है ही नहीं, तब उसकी प्राप्ति कठिन कैसे ! कठिनता और सुगमताका सवाल ही नहीं है।

श्रोता—बात तो यह ठीक जँचती है पर .....।

स्वामीजी—ठीक जँचती है तो मना कौन करता है ? आड़ तो आपने खुद ही लगा रखी है। वास्तवमें आपको परमात्मप्राप्तिकी परवाह ही नहीं है, चाहे प्राप्ति हो अथवा न हो !

संतदास संसार में, कई गुग्गु कई डोड।
डूबन को साँसो नहीं, नहीं तिरन को कोड ॥

—गुग्गु-(उल्लू-) को तो दिनमें नहीं दीखता और डोड- (एक

प्रकारका बड़ा कौआ-) को रातमें नहीं दीखता। परन्तु संसारमें कई ऐसे लोग हैं, जिनको न दिनमें दीखता है और न रातमें दीखता है अर्थात् अपने उद्धारकी तरफ उनकी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। उनमें न तो अपने डूबने-(पतन होने-)की चिन्ता होती है और न तैरने-(अपने उद्धार करने-) का उत्साह होता है।

केवल यह लालसा हो जाय कि परमात्माकी प्राप्ति कैसे हो ? क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किससे पूछूँ ? यह लालसा जोरदार लगी कि परमात्माकी प्राप्ति हुई ! क्योंकि यह लालसा लगते ही दूसरी लालसाएँ छूट जाती हैं। जबतक दूसरी सांसारिक लालसाएँ रहती हैं तबतक एक अनन्य लालसा नहीं होती। परमात्मा अनन्य हैं; क्योंकि उनके समान दूसरा कोई है ही नहीं, इसलिये उनकी प्राप्तिकी लालसा भी अनन्य होनी चाहिये।

श्रोता—परमात्माकी लालसा बनानी पड़ती है कि स्वतःसिद्ध है ?

स्वामीजी—परमात्माकी लालसा स्वतःसिद्ध है, दूसरी लालसाएँ आपने बनायी हैं। अतः उन लालसाओंको छोड़ना है। अभी आप जिन लालसाओंको जानते हो, आजसे पचास वर्ष पहले उनको जानते थे क्या ? जानते ही नहीं थे। इसलिये वे लालसाएँ बनावटी हैं। एक क्षण भी कोई लालसा टिकती नहीं, प्रत्युत बदलती रहती है, मिटती रहती है और आप नयी-नयी लालसा पकड़ते रहते हो।

श्रोता—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना भी परमात्मप्राप्ति हो सकती है क्या ?

स्वामीजी—परमात्मप्राप्तिकी अनन्य लालसाके बिना, दूसरी लालसा रहते हुए भी उद्योग किया जा सकता है, भजन-स्मरण किया जा सकता है। परंतु यह लम्बा रास्ता है, इससे तत्काल परमात्मप्राप्ति नहीं होगी। एक-दो जन्म, दस जन्म, पता नहीं कितने जन्ममें हो जाय तो हो जाय ! दूसरी लालसा रहनेसे ही तो हम अटके पड़े हैं, नहीं तो अटकते क्या ? जो सत्संगमें लगे हुए हैं, उनमें कुछ-न-कुछ-

पारमार्थिक लालसा है ही; परन्तु अनन्य लालसा न होनेसे ही परमात्मप्राप्तिमें देरी हो रही है।

वास्तवमें देखा जाय तो पारमार्थिक लालसाके बिना कोई प्राणी है ही नहीं। परन्तु इस बातका पता पशु-पक्षियोंको नहीं है। जो मनुष्य पशु-पक्षियोंकी तरह ही जीवन बिता रहे हैं, उनको भी इस बातका पता नहीं है। सभी उस तत्त्वको चाहते हैं। जैसे, कोई भी प्राणी मरना चाहता है क्या ? सभी प्राणी निरन्तर रहना चाहते हैं—यह 'सत्' की चाहना है ! कोई अज्ञानी रहना चाहता है क्या ? सभी जानना चाहते हैं—यह 'चित्'की चाहना है। कोई दुःखी रहना चाहता है क्या ? सभी सुखी रहना चाहते हैं—यह 'आनन्द' की चाहना है। इस प्रकार सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप परमात्माकी चाहना सभीमें स्वाभाविक है। इसको कोई मिटा नहीं सकता, दूसरी चाहनाएँ जितनी ज्यादा पकड़ रखी हैं, उतनी ही परमात्मप्राप्तिमें देरी लगेगी। दूसरी चाहनाएँ जितनी मिटेंगी, उतनी ही जल्दी परमात्मप्राप्ति होगी। सर्वथा चाहना मिटा दो तो तत्काल परमात्मप्राप्ति हो जायगी।

राज्यकी चाहना होनेसे ही ध्रुवजीको परमात्मप्राप्तिमें देरी लगी। इस चाहनाके कारण अन्तमें उनको पश्चात्ताप हुआ कि मैंने गलती कर दी ! आप जिन चाहनाओंको पूरी करना चाहते हैं, उन चाहनाओंका आपको पश्चात्ताप होगा और रोना पड़ेगा। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें दूसरी लालसा बाधक है—इस बातपर विचार करनेसे दूसरी लालसा मिट जायगी। दूसरी लालसा परमात्म-प्राप्तिमें बाधा देनेमें ही सहायता करती है। इससे लोक-परलोकमें किसी तरहका किञ्चिन्मात्र भी फायदा नहीं है। केवल नुकसानके सिवाय और कुछ नहीं है। दूसरी लालसा केवल आध्यात्मिक मार्गमें बाधा डालती है। अगर इससे कुछ भी फायदा हो तो कोई बताओ कि अमुक लालसासे इतना फायदा हो जायगा। इसमें कोरा नुकसान है। केवल नुकसानकी बात भी आप नहीं छोड़ सकते, तो क्या छोड़ सकते हैं।

श्रोता—दूसरी लालसा किसपर टिकी हुई है ?

स्वामीजी—दूसरी सभी लालसाएँ संयोगजन्य सुख-भोगकी लालसापर टिकी हुई हैं। संयोगजन्य सुखभोगकी जो लालसा है, मनमें जो रुचि है, यही बाधक है; सुख इतना बाधक नहीं है। असली बीमारी कहाँ है—इस बातका हमें तो कई वर्षोंतक पता नहीं लगा था। व्याख्यान देते-देते कई वर्ष बीत गये तब पता लगा कि मनमें संयोगजन्य सुखकी जो लोलुपता है। यहाँ है वह बीमारी ! हमें सुख मिल जाय—बस, इस इच्छामें ही सब बाधाएँ हैं। यही अनर्थका मूल है, यही जहर है।

श्रोता—संयोगजन्य सुखकी लालसा कैसे छूटे ?

स्वामीजी—इसके छूटनेका बड़ा सरल उपाय है। परंतु इसको छोड़ना है—इतनी इच्छा आपके घरकी, स्वयंकी होनी चाहिये; क्योंकि इसके बिना कोई उपाय काम नहीं देगा। इसको हम छोड़ना चाहते हैं—इतने आप तैयार हो जाओ तो ऐसा उपाय मेरे पास है, जिससे बहुत जल्दी काम बन जाय ! मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सन्तोंसे सुना है, वह बात कहता हूँ। भाई-बहनोंके लिये, पढ़े-लिखे और अनपढ़ आदमियोंके लिये, छोटे-बड़ोंके लिये, सबके लिये सीधा सरल उपाय है कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे ? दूसरोंको आराम कैसे मिले ? दूसरोंका भला कैसे हो ?—यह लालसा लग जाय तो अपने सुखकी लालसा छूट जायगी। करके देख लो, नहीं तो फिर मेरेसे पूछो कि यह तो हुआ नहीं ! युक्ति-संगत न दीखे तो कह दो कि यह युक्ति-संगत नहीं दीखता !

श्रोता—इसमें प्रारब्धकी बाधा है कि नहीं ?

स्वामीजी—इसमें प्रारब्धकी कोई बाधा नहीं है। इसमें प्रारब्ध मानना तो केवल बहानेबाजी है। प्रारब्ध ऐसा ही है, समय ऐसा ही आ गया, ईश्वरने कृपा नहीं की, अच्छे गुरु नहीं मिले, अच्छे महात्मा नहीं मिले, कोई बतानेवाला नहीं मिला, हमारा भाग्य ऐसा ही है—यह सब बहानेबाजी है, केवल परमात्मतत्त्वसे वञ्चित रहनेका उपाय है।

ऐसा भी कभी हो सकता है कि ईश्वर अपनी प्राप्तिमें बाधा दे दे ? अथवा हमारा किया हुआ कर्म हमें बाधा दे दे ? या हमारी बनायी हुई वासना हमें बाधा दे दे ? कर्म हमने स्वयं किये हैं, वासनाएँ हमने स्वयं बनायी हैं। जो चीज हमने पैदा की है, उसको हम मिटा सकते हैं। गुरु कोई नहीं मिला तो गुरुकी जरूरत ही नहीं है। कोई महात्मा नहीं मिला तो महात्माकी जरूरत ही नहीं है। भगवान्‌ने जब अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री कम दी है क्या ? अगर गुरुकी जरूरत होगी तो भगवान्‌को स्वयं गुरु बनकर आना पड़ेगा! वे जगद्‌गुरु हैं—**'कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्'**। अच्छे महात्मा संसारमें क्यों रहते हैं ? तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त, परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुष संसारमें जीते हैं, तो क्यों जीते हैं ? संसारमें आकर उन्हें जो काम करना था, वह काम तो उन्होंने पूरा कर लिया; अतः उनको उसी वक्त मर जाना चाहिये था! परन्तु वे अब जीते हैं तो केवल हमारे लिये जीते हैं। उनपर हमारा पूरा हक लगता है। जैसे बालक दुःख पा रहा है तो माँ जीती क्यों है ? माँ तो बालकके लिये ही है, नहीं तो मर जाना चाहिये माँको! जरूरत नहीं है उसकी! ऐसे ही वे महात्मा पुरुष संसारमें जीते हैं, तो केवल जीवोंके कल्याणके लिये जीते हैं। इसीलिये महात्मा हमें नहीं मिलेंगे तो वे कहाँ जायँगे ? उनको मिलना पड़ेगा, झख मारकर आना पड़ेगा; अगर हम सच्चे हृदयसे परमात्माको चाहते हैं, तो गुरुकी जरूरत होनेपर गुरु अपने-आप आ जायगा। भगवान् गुरुको भेज देंगे। ऐसी कई घटनाएँ हुई हैं। यह एकदम सच्ची बात है। इसलिये प्रारब्ध और कर्म कुछ भी बाधक नहीं हैं। परमात्मप्राप्तिकी एक प्रबल इच्छा हो जाय तो अनन्त जन्मोंके पाप भस्म हो जायँगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

६. भगवान्‌से नित्ययोग

श्रोता—भगवान् तो प्रत्यक्ष नहीं दीखते, पर धन प्रत्यक्ष दीखता है; तो फिर धनका आश्रय कैसे छोड़ें ?

स्वामीजी—वास्तवमें धन है ही नहीं, दीखे कहाँसे ? अभी आपको धन कहाँ दीखता है ? धनका आश्रय हरदम दीखता है, धन हरदम नहीं दीखता। इस बातपर खूब विचार करो। धन आता हुआ दीखता है अथवा जाता हुआ दीखता है, रहता हुआ नहीं दीखता। धन पहले था नहीं और बादमें रहेगा नहीं, पर भगवान् पहले भी थे अब भी हैं और बादमें भी रहेंगे। भगवान् आते-जाते हैं ही नहीं। अतः यह कैसे कहा जाय कि भगवान् नहीं दीखते और धन दीखता है ? हाँ, भगवान् नेत्रोंसे नहीं दीखते। वे तो बुद्धिरूपी नेत्रोंसे दीखते हैं, आस्तिक-भावसे दीखते हैं।

धनका आश्रय पहले नहीं था, पहले (छोटी अवस्थामें) माँका आश्रय था। धनका आश्रय बादमें पकड़ा है। परन्तु भगवान्‌का आश्रय पहलेसे है। उनके आश्रयसे अनन्त ब्रह्माण्ड चल रहे हैं। उनका आश्रय पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। उनके आश्रयका कभी अभाव नहीं होता। परन्तु धनका आश्रय सदा रहेगा—यह बात है ही नहीं।

धन सदा साथमें नहीं रहेगा। हम धनके साथ नहीं रहेंगे और धन हमारे साथ नहीं रहेगा। परन्तु भगवान् सदा हमारे साथ रहेंगे। हम भगवान्‌के बिना नहीं रह सकते और भगवान् हमारे बिना नहीं

रह सकते। हमारी ताकत नहीं है कि हम भगवान्‌से अलग हो सकें। इतना ही नहीं, भगवान्‌की भी ताकत नहीं है कि वे हमारेको छोड़कर अलग रह सकें। जिस दिन भगवान् हमारेको छोड़कर अलग रहेंगे, उस दिन हम एक अलग भगवान् हो जायँगे। इस प्रकार दो भगवान् हो जायँगे, जो कि सम्भव नहीं है। अतः भगवान् हमारा साथ छोड़ ही नहीं सकते, इसलिये भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये।

आश्रय उसीका लेना चाहिये, जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो। जिसकी परतन्त्र सत्ता हो, उसका आश्रय हमें लेना ही नहीं है। भगवान्‌की स्वतन्त्र सत्ता है; अतः हमें भगवान्‌का ही आश्रय लेना चाहिये। वे भगवान् कभी हमारेसे अलग नहीं होते। हमारेसे अलग होनेकी उनमें सामर्थ्य ही नहीं है। भगवान् सर्वव्यापक हैं, सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदिमें परिपूर्ण हैं, अतः वे हमें कैसे छोड़ देंगे? अगर छोड़ देंगे तो वे सर्वव्यापक कैसे हुए? भगवान्‌को छोड़कर हम रह ही नहीं सकते। हम रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, नहीं रहेंगे तो उसीमें रहेंगे, जन्मेंगे तो उसीमें रहेंगे, मरेंगे तो उसीमें रहेंगे और जन्म-मरणसे रहित (मुक्त) हो जायँगे तो उसीमें रहेंगे। हम भगवान्‌को छोड़कर नहीं रह सकते और भगवान् हमें छोड़कर नहीं रह सकते। हम दूसरेका आश्रय लेते हैं, यही बाधा है।

एक विशेष बात है, आपलोग ध्यान देकर सुनें। बात गहरी है, पर बड़ी सरलतासे बताता हूँ। 'मैं हूँ'—इसका अनुभव सबको है। मैं हूँ कि नहीं हूँ—इसमें कभी सन्देह होता है क्या? इसमें क्या किसीकी गवाही लेनी पड़ती है? किसीको पूछना पड़ता है कि बताओ मैं हूँ कि नहीं हूँ? 'मैं हूँ'—यह अनुभव स्वाभाविक तथा स्वतन्त्रतासे है। मैं कैसा हूँ, क्या हूँ—यह चाहे हम न जानें, पर 'मैं हूँ'—इस अपने होनेपनमें कभी हमें संदेह नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि मैं अनेक जन्मोंमें था, इस जन्ममें भी हूँ और आगे भी रहूँगा। अभी जागनेमें, सोनेमें, स्वप्नमें भी मैं निरन्तर हूँ। बचपनसे लेकर अभीतक

बीचमें कभी मैं नहीं रहा, किसी समय मैं नहीं था—ऐसी बात हुई है क्या ? अपनी सत्ता नित्य-निरन्तर अनुभवमें आती है कि 'मैं हूँ'। यह एकदम सबके अनुभवकी बात है। इस नित्य-निरन्तर रहनेवाली हमारी सत्तामें कभी कमी नहीं आती। कमी आये बिना हमारे भीतर कामना कैसे हो सकती है ? हमारे भीतर कामना तभी होती है, जब हम उत्पत्ति-विनाशवाले शरीरको अपने साथ मान लेते हैं। जब शरीर, पदार्थ, परिवार आदिको अपने साथ मान लेते हैं; तब उनमें कमी आनेसे हमारे भीतर कामना होती है। अतः शरीर, परिवार, धन-सम्पत्ति, वैभव आदिको अपने साथ न मानें; क्योंकि ये सब तो बदलनेवाले हैं और मैं निरन्तर रहनेवाला हूँ! बालकपन, जवानी, बुढ़ापा, रोग-अवस्था, नीरोग-अवस्था—ये सब अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, पर मैं सदा ज्यों-का-त्यों रहता हूँ।

शरीर बदलनेके साथ आप अपना बदलना भी मान लेते है, पर वास्तवमें आप बदलते नहीं हैं। आपके बचपनका अभाव हो गया; तो आपका अभाव भी हो गया क्या ? जैसे 'मैं हूँ'— इसका कभी अभाव नहीं होता, ऐसे ही भगवान्‌का कभी अभाव नहीं होता। वे सदासे हैं और सदा रहेंगे। सन्तोंके, शास्त्रोंके कहनेसे पता लगता है कि 'सदा' तो मिट जायगा, पर भगवान् रहेंगे। कारण कि 'सदा' नाम कालका है और भगवान् कालको भी खा जाते हैं—

ब्रह्म-अगनि तन बीचमें, मथकर काढ़े कोय।
उलट कालको खात है, हरिया गुरुगन होय॥
नवग्रह चौंसठ जोगनी, बावन वीर पर्जन्त।
काल भक्ष सबको करे, हरि शरणे डरपन्त॥

तात्पर्य है कि काल भी नष्ट हो जाता और परमात्मा रहते।

'मैं हूँ'—इसमें 'हूँ'-पना शरीरको लेकर है। यदि शरीरसे सम्बन्ध न रहे तो 'है'-पना ही रहेगा 'तू है', 'यह है', 'वह है' और 'मैं हूँ'—इन चारोंके सिवाय कुछ है ही नहीं। इनके सिवाय

पाँचवाँ कोई हो तो बताओ ? इन चारोंमें केवल 'मैं' के साथ ही 'हूँ', आया है, बाकी तीनोंके साथ 'है' आया है। 'मैं' लगानेसे ही 'हूँ' हुआ है—'**अस्मद्युत्तमः**'। यदि 'मैं' को साथमें नहीं लगायें तो 'है' ही रहेगा। इस 'है' में कभी कमी नहीं आती। कारण कि सत्‌में कभी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६) वह नित्य-निरन्तर रहता है। उस नित्य-निरन्तर रहनेवाले परमात्मतत्त्वमें ही मैं हूँ—केवल इतनी बात आप मान लो। इसके सिवाय और आपको कुछ नहीं करना है।

यह एक बड़ा भारी वहम है कि करनेसे ही परमात्मप्राप्ति होगी। अतः भजन करो, जप करो, सत्संग करो, स्वाध्याय करो, ध्यान करो, समाधि लगाओ। इस प्रकार करनेपर ही बड़ा भारी जोर है। बातोंसे कुछ नहीं होगा, करनेसे होगा—यह धारणा रोम-रोममें बैठी हुई है। परंतु मैं इससे विलक्षण बात कहता हूँ कि 'है' रूपसे जो सर्वत्र परिपूर्ण सत्ता है, जिसमें कभी किंचिन्मात्र भी परिवर्तन नहीं होता, उसीमें ही मैं हूँ। 'मैं' और वह 'है' एक ही है। जब ऐसा ठीक तरहसे जान लिया तो फिर क्या करना रहा ? क्या जानना रहा ? क्या पाना रहा ? मैं नित्य-निरन्तर परमात्मामें हूँ—यह असली शरण है। उस सर्वत्र परिपूर्ण 'है'-(परमात्मतत्त्व-) से अलग कोई हो ही नहीं सकता। उस 'है' की ही प्राप्ति करनी है, 'नहीं' की प्राप्ति नहीं करनी है। 'नहीं' की प्राप्ति होगी, तो अन्तमें 'नहीं' ही रहेगा। जो नहीं है वह प्राप्त होनेपर भी रहेगा कैसे ? इसलिये 'है' की ही प्राप्ति करनी है, और उस 'है'की प्राप्ति नित्य-निरन्तर है। हम उसमें हैं और वह हमारेमें है।

यह सबका अनुभव है कि 'मैं हूँ' और मैं वही हूँ, जो बचपनमें था। अवस्था बदल गयी, समय बदल गया, संयोग बदल गया, साथी बदल गये, भाव बदल गये; परंतु आप बदले हो क्या ? आप नहीं बदले। ऐसे ही सब संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। हम उस परमात्माके अंश हैं, संसारके अंश नहीं हैं। संसारके अंश

शरीरको तो हमने ('मैं' और 'मेरा' मानकर) पकड़ा है। वास्तवमें वह हमारा नहीं है, प्रत्युत संसारका है।

'हूँ' तो 'है' से कमजोर ही है। कारण कि 'हूँ' शरीरको लेकर (एकदेशीय) है और शरीर कमजोर है ही। शरीर तो नहीं रहेगा, पर 'है' तो रहेगा ही। 'है' (परमात्मा) समुद्र है और 'हूँ' उसकी तरंग है। तरंग शान्त होनेपर भी समुद्र तो रहता ही है। अतः हमारा स्वरूप 'है' से अभिन्न है—इस बातको आप मान लो। समझमें न आये, तो भी मान लो। इतनी बात मान लो कि मैं उसका हूँ। ऐसा मानकर जप करो, कीर्तन करो, स्वाध्याय करो, सत्संग करो। 'हूँ' का 'है' ही है।

'हूँ' बदलता है और 'है' नहीं बदलता—यही बात मैं कहना चाहता हूँ। यह सार बात है। सनकादि ऋषियोंका भी यही ज्ञान है। ब्रह्मा आदिका भी यही ज्ञान है। व्यासजी महाराजका भी यही ज्ञान है। शुकदेवजीका भी यही ज्ञान है। जितने सन्त-महात्मा हुए हैं, उनका भी यही ज्ञान है। इस ज्ञानसे आगे कुछ है नहीं। कैवल्य ज्ञान भी इसके सिवाय और कुछ नहीं है। किसी मत-मतान्तरमें इससे बढ़कर कोई चीज है नहीं, होगी नहीं, हो सकती नहीं। इतनी सरल और इतनी ऊँची बात है। इसको हरेक भाई-बहन, साधारण पढ़ा-लिखा, बिलकुल पढ़ा-लिखा और बिना पढ़ा-लिखा भी समझ सकता है, इतनी सीधी बात है! इससे बड़ी बात आपको कहीं भी नहीं मिलेगी। ऐसा इसलिये कहता हूँ कि आप इसका आदर करें, इसको महत्त्व दें कि ऐसी ऊँची बात आज मिल गयी! उपनिषदोंमें आता है कि बहुत-से आदमियोंकी तो ऐसी बात सुननेको भी नहीं मिलती—**'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः'** (कठ० १।२७)। उम्र बीत जाती है और सुननेको नहीं मिलती।

अब आपको एक और बात बताऊँ कि अभी आपकी जैसी मान्यता है, ऐसी मान्यता आगे न रहे तो कोई बात नहीं आप घबराना नहीं कि हमें यह बात हरदम याद नहीं रहती। आपको अपना नाम

हरदम याद रहता है क्या ? हरदम याद न रहनेपर भी जब देखो, तब दीखता है कि मैं अमुक नामवाला हूँ। इसी तरह यह बात हरदम भले ही याद न रहे, पर विचार करते ही यह चट याद आ जायगी कि बात तो ऐसी ही है। इससे सिद्ध होता है कि यह बात मिटी नहीं है, इसकी भूली नहीं हुई है। इसकी भूली तब मानी जाय, जब आप इस बातको रद्दी कर दो, यह कहो कि मैं इस नामवाला नहीं हूँ। अतः बीचमें यह बात याद न आनेपर भी इसकी भूली नहीं हुई है, नहीं हुई है, नहीं हुई है। इस बातको रद्दी करो तो बात दूसरी है, नहीं तो आठ पहरमें एक बार भी याद नहीं आये, तो भी बात ज्यों-की-त्यों ही रहेगी। 'है' कैसे मिट जायगा ? इतनी ऊँची, इतनी बढ़िया, इतनी पक्की बात है ! मान लो तो बेड़ा पार है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

७. अपने अनुभवका आदर

एक बहुत सीधी-सरल और सबके अनुभवकी बात है। केवल उसका आदर करना है, उसको महत्त्व देना है, उसको कीमती समझना है। जिस तरह आपने रुपया, सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना आदिको कीमती समझ रखा है, इस तरह इस बातको कीमती समझो, इसको महत्त्व दो तो अभी इसी क्षण उद्धार हो जाय। इसको महत्त्व नहीं देते, इसी कारणसे बन्धन हो रहा है; और कोई कारण नहीं है। रुपये तो किसीके पास हैं और किसीके पास नहीं, पर यह बात सबके पास है। कोई भी इससे रहित नहीं है। परंतु इस बातको महत्त्व न देनेसे इसका अनुभव नहीं हो रहा है—

लाली लाली सब कहे, सबके पल्ले लाल।
गाँठ खोल देखे नहीं, ताते फिरे कंगाल॥

वह गाँठ खुलनेकी बात बताता हूँ। जो सन्त-महात्माओंसे सुनी है, पुस्तकोंमें पढ़ी है, वही बात कहता हूँ। एकदम सच्ची बात है। श्रुति, युक्ति और अनुभूति—ये तीन प्रमाण मुख्य माने गये हैं। अभी मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, वह श्रुति-(शास्त्र-) सम्मत, युक्तिसंगत और अनुभवसिद्ध है।

आप अपनेको मानते हैं कि 'मैं वही हूँ, जो बचपनमें था अर्थात् बालकपनमें जो था वही आज हूँ और मरनेतक मैं वही रहूँगा।' शास्त्र, सन्त अपनी संस्कृतिके अनुसार आप ऐसा भी मानते हैं कि पहले जन्मोंमें भी मैं था और इसके बाद भी अगर मेरे जन्म होंगे तो मैं रहूँगा। बालकपन भी अभी नहीं है और मृत्युका समय भी अभी नहीं है; पहलेके जन्म भी अभी नहीं हैं और आगेके जन्म भी नहीं हैं;

परन्तु 'मैं अभी हूँ।' तात्पर्य यह हुआ कि मैं नित्य-निरन्तर हूँ और शरीर बदलते हैं। शरीरोंके बदलनेपर भी मैं किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता। शरीर तो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। एक क्षण भी ऐसा नहीं, जिसमें ये न बदलते हों। परन्तु इनमें रहनेवाला मैं (स्वरूप) अनन्त युग, अनन्त ब्रह्मा बीतनेपर भी कभी बदलता नहीं। अतः बदलनेवाले शरीर और न बदलनेवाले अपने-आपको मिलायें नहीं, प्रत्युत अलग-अलग कर लें। बस, इतना ही काम है। जब इन दोनोंको मिलाकर देखते हैं, तब अज्ञान हो जाता है; और जब इनको अलग-अलग देखते हैं तब ज्ञान हो जाता है।

आप जानते हैं कि बचपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। इस ज्ञानको शास्त्रीय भाषामें 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। इसी ज्ञानको **'तत्त्वमसि'**—'वही (परपात्मा) तू है' कहते हैं। ऊँचा-से-ऊँचा महावाक्य भी यही है और साधारण-से-साधारणका अनुभव भी यही है। केवल इसपर दृढ़ रहना है कि जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है। वृत्तियाँ बदलती हैं, अवस्थाएँ बदलती हैं, घटनाएँ बदलती हैं, परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्ति बदलते हैं, वस्तुएँ बदलती हैं, पर मैं बदलनेवाला नहीं हूँ। मैं बदलनेवालेको देखनेवाला हूँ। बदलनेवाला वही देखता है, जो स्वयं न बदलनेवाला होता है। इसलिये मैं सदा रहता हूँ। मेरा स्वरूप कभी बदलता नहीं और शरीर कभी स्थिर रहता नहीं। मैं वही हूँ, पर शरीर वही नहीं है। ऐसे ही परमात्मा वही हैं, पर संसार वही नहीं है। जो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि अनन्त युगोंसे पहले थे, वे ही परमात्मा आज हैं। अनन्त युग बदल जायँगे, तो भी परमात्मा वे ही रहेंगे। अतः मैं और परमात्मा एक हैं तथा शरीर और संसार एक हैं।

छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥

(मानस ४। ११। २)

भूल यह हुई है कि शरीरको तो संसारसे अलग मान लिया कि

'यह तो मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ' और अपनेको परमात्मासे अलग मान लिया कि मैं तो यहाँ हूँ और 'परमात्मा न जाने कहाँ हैं !' शरीर संसारसे कभी अलग हो ही नहीं सकता। ब्रह्माजीकी भी ताकत नहीं कि शरीरको संसारसे अलग कर दें। जिस धातुका संसार है, उसी धातुका शरीर है। स्थूल-शरीरकी स्थूल-संसारके साथ एकता है, सूक्ष्म-शरीरकी सूक्ष्म-संसारके साथ एकता है, कारण-शरीरकी कारण-संसारके साथ एकता है। परंतु हमारी परमात्माके साथ एकता है। हम परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५।७)। परमात्मा और परमात्माका अंश दो नहीं हैं।

शरीरके साथ हमारी एकता नहीं है, पर उसके साथ एकता मान ली और परमात्माके साथ हमारी एकता है, पर उसके साथ एकता नहीं मानी—यह केवल मान्यताका फर्क है और कुछ फर्क नहीं। हमने मान्यता गलत कर रखी है। शरीर बदलता है, पर आप नहीं बदलते। संसार बदलता है, पर परमात्मा नहीं बदलते। अतः न बदलनेवाले हम परमात्माके साथ एक हैं और बदलनेवाला शरीर संसारके साथ एक है—यह विवेक मनुष्यमात्रमें स्वतःसिद्ध है। यह कभी मिट नहीं सकता।

संसार और परमात्माका, हमारे शरीरका और हमारे स्वरूपका जो दो-पना (अलगाव) है, यह कभी मिटेगा नहीं। यह नित्य-निरन्तर रहनेवाला है। परंतु मनुष्य इस बातका आदर नहीं करता, इसको महत्त्व नहीं देता । 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस बातको उसने रद्दी कर रखा है और 'यह शरीर मैं हूँ'—'इस बातको पकड़ रखा है। परंतु शरीरके साथ एकताको अभीतक कोई पकड़कर रख सका नहीं और रख सकेगा नहीं। अतः शरीर और संसार एक हैं तथा मैं और परमात्मा एक हैं। मैं और परमात्मा एक हैं—इस विषयमें मतभेद है। द्वैत-मतवाले परमात्माके साथ जातिसे एकता मानते हैं और अद्वैत-मतवाले स्वरूपसे एकता मानते हैं। परन्तु मैं और शरीर एक

नहीं हैं—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं है। श्रीशंकराचार्य, श्रीवल्लभाचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीविष्णुस्वामी, श्रीचैतन्य महाप्रभु आदि जितने महापुरुष हुए हैं, उन्होंने द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद आदि नामोंसे अपने-अपने दर्शनोंमें परमात्माके साथ जीवका घनिष्ठ सम्बन्ध माना है। परंतु शरीरके साथ अपना सम्बन्ध किसीने भी नहीं माना है। शरीर-संसारके साथ हमारी एकता नहीं है—इस विषयमें सभी आचार्य, दार्शनिक, विद्वान् एकमत हैं। जिस विषयमें सभी एकमत हैं, उस बातको आप मान लो। हम शरीर-संसारके साथ एक नहीं हैं, हम तो परमात्माके साथ एक हैं—यही ज्ञान है। इस ज्ञानको दृढ़तासे पकड़ लें; इसमें बाधा क्या है ?

शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेके कारण हम शरीरके सुखसे अपनेको सुखी मानते हैं। शरीरका मान होनेसे हम अपना मान मानते हैं। शरीरकी बड़ाई होनेसे हम अपनी बड़ाई मानते हैं। शरीरके निरादरसे हम अपना निरादर मानते हैं। शरीरके अपमानसे हम अपना अपमान मानते हैं। वास्तवमें शरीरको कोई पीस डाले, तो भी हमारा कुछ नहीं बिगड़ता। एक दिन इस शरीरको लोग जला ही देंगे, पर हमारा बाल भी बाँका नहीं होगा। हमारे स्वरूपका किञ्चिन्मात्र भी हिस्सा नहीं जलेगा, नष्ट नहीं होगा। अतः संसार हमारा निरादर कर दे, अपमान कर दे, निन्दा कर दे, दुःख दे दे, शरीरका टुकड़ा-टुकड़ा कर दे तो क्या हो जायगा ? गीताने कहा है—'**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते**' (६। २२) अर्थात् परमात्मस्वरूप आत्यन्तिक सुखमें स्थित मनुष्य बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं किया जा सकता। किसी कारणसे शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ, तो भी वह अपने स्वरूपसे विचलित नहीं होता, महान् आनन्दसे इधर-उधर नहीं होता। हाँ, शरीरको पीड़ा हो सकती है, मूर्छा आ सकती है, पर दुःख नहीं हो सकता। इतना आनन्द सांसारिक वस्तुओंसे कभी नहीं

हो सकता। परंतु आपने मैं और शरीर दो हैं—इस बातका अनादर कर दिया और शरीरके साथ एक होकर उसके दुःखमें दुःख और सुखमें सुख मान लिया; इसको कृपा करके न मानें।

श्रोता—शरीर तो प्रत्यक्ष दीखता है; इसको कैसे नहीं मानें ?

स्वामीजी—दीखता है तो दीखता रहे, इसको मानो मत। दर्पणमें अपना मुख दीखता है तो उस मुखको आप दर्पणमें मानते हो क्या ? नहीं मानते। दर्पणमें दीखनेवाले मुखको आप पकड़ सकते हो क्या ? नहीं पकड़ सकते। अतः जो दीखता है, उसको आप मत मानो। मैं शरीर हूँ—यह दर्पणमें दीखनेवाले मुखकी तरह दीखता है, वास्तवमें है नहीं। अगर आप और शरीर एक होते तो शरीर आपसे छूट नहीं सकता और आप शरीरको छोड़ नहीं सकते। परन्तु मरनेपर शरीर छूट जाता है और आप शरीरको छोड़ देते हो; आप और शरीर एक नहीं हुए। जैसे, मैं मकानमें बैठा हूँ तो मेरे बिना भी यह मकान रहता है और इस मकानके बिना भी मैं रहता हूँ; अतः मैं मकान नहीं हूँ। हम मरे हुए मनुष्योंको, पशुओंको देखते हैं कि उनके शरीर तो यहीं पड़े हैं, पर उनमें रहनेवाला जीवात्मा चला गया है। वे दोनों अभी अलग हुए हों, ऐसी बात नहीं है। वे तो पहलेसे ही अलग थे। अगर जीवात्मा और शरीर एक होते तो जीवात्माके साथ शरीर भी चला जाता अथवा शरीरके साथ जीवात्मा भी यहीं रहता। परंतु न तो जीवात्माके साथ शरीर रहता है और न शरीरके साथ जीवात्मा रहता है। अतः शरीर और जीवात्मा दो हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। इन दोनोंको अलग-अलग जानना ही ज्ञान है, जिसका वर्णन भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें किया है (२। ११-३०)। अपने उपदेशके आरम्भमें ही भगवान्‌ने बताया कि शरीर और शरीरी, देह और देही—ये दोनों अलग-अलग हैं। शरीर सदा बदलनेवाला है, पर शरीरी कभी बदलनेवाला, नष्ट होनेवाला नहीं है। इस प्रकार जान लेनेपर शोक हो ही नहीं सकता; क्योंकि नाश होनेवालेका नाश होगा ही, इसमें शोककी

क्या बात ? और अविनाशी सदा अविनाशी ही रहेगा, इसमें शोक किस बातका ?

जैसे आप अपनेको शरीरमें मानते हैं, ऐसे ही परमात्मतत्त्व सम्पूर्ण संसारमें है। सम्पूर्ण संसारमें होते हुए भी परमात्माका संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सब-का-सब संसार उथल-पुथल हो जाय, तो भी परमात्माका कुछ नहीं बिगड़ता। ऐसे ही आपका शरीर उथल-पुथल हो जाय, तो भी आपका कुछ नहीं बिगड़ता। आप जैसे हो, वैसे ही रहते हो। आपने गुणोंका संग माना है, शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये जन्म-मरण होते हैं—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३ । २१)। गुणोंका संग छोड़नेपर जन्म-मरण हैं ही नहीं। गुणोंका संग आपने माना है; अतः उसको न माननेपर वह सम्बन्ध मिट जायगा।

यह एक सीधी, सच्ची बात है कि आप नित्य-निरन्तर रहते हैं और शरीर एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, नित्य-निरन्तर बदलता है। यह बात सुननेपर अच्छी लगती है, ठीक (सही) लगती है, फिर भी यह बात रहती नहीं—ऐसा आप मत मानो। यह बात कभी जा नहीं सकती। अनन्त युगोंसे यह बात वही रही, तो अब कैसे चली जायगी ? पहले इस बातकी तरफ लक्ष्य नहीं था, अब लक्ष्य हो गया—इतना फर्क पड़ गया बस। यह बात न तो पहले गयी थी, न अब जायगी। यह तो सदा ऐसी ही रहेगी। याद न रहे तो भी यह ऐसी ही रहेगी। इसका अनुभव न हो तो भी यह बात ऐसी ही रहेगी। जैसे, अभी यह खम्भा दीखता है। बाहर चले जाओ तो यह खम्भा नहीं दीखेगा, तो यह खम्भा मिट गया क्या ? जो बात सही है, वह तो ज्यों-की-त्यों ही रहेगी।

श्रोता—फिर बाधा क्या लग रही है ?

स्वामीजी—दूसरोंसे सुख लेते हैं—यही खास बाधा है। अब दूसरोंको सुख देना शुरू कर दो। इतने दिन तो सुख लिया है, अब

सुख देना शुरू कर दो, बस। निहाल हो जाओगे !

रुपया-पैसा मेरेको मिल जाय, आराम मेरेको मिल जाय, सुख मेरेको मिल जाय, मान मेरा हो जाय, बड़ाई मेरी हो जाय—यही महान् बाधा है और इससे मिलेगा कुछ भी नहीं। रुपया-पैसा, मान-बड़ाई आदि मिल भी जायँ तो टिकेंगे नहीं और टिक भी जायँ तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। शुद्ध हानिके सिवाय केश-जितना भी लाभ नहीं होगा। इतने नुकसानकी बातको भी नहीं छोड़ोगे तो क्या छोड़ोगे ?

संसारसे सुख लेनेकी जो कामना है, यही बाधा है। धन, मान, भोग, जमीन, मकान आदिकी कई तरहकी कामनाएँ हैं, पर मूलमें कामना यही है कि मेरे मनकी बात पूरी हो जाय, मैं जैसा चाहूँ वैसा हो जाय। अगर इसकी जगह यह भाव हो जाय कि मेरे मनकी न होकर भगवान्‌के मनकी हो जाय अथवा संसारके मनकी हो जाय तो निहाल हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं। भगवान्‌के मनकी बात पूरी हो जाय—यह भक्तियोग हो गया। संसारके मनकी बात पूरी हो जाय—यह कर्मयोग हो गया। मेरे मनकी बात है ही नहीं, मन मेरा है ही नहीं, यह तो प्रकृतिका है—यह ज्ञानयोग हो गया।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

८. भगवत्प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जिसको मुक्ति, कल्याण अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं, वह स्वतःसिद्ध है, क्रियाके द्वारा सिद्ध होनेवाली चीज नहीं है। यह बहुत विलक्षण बात है ! आप कृपा करके इस बातकी तरफ ध्यान दें। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे सब प्रकृतिका कार्य होनेसे उनमें हरदम परिवर्तन होता रहता है। क्रियाशील होनेसे उन वस्तुओंकी प्राप्ति भी कर्मोंके द्वारा ही होती है। अतः संसारकी वस्तुएँ क्रियासाध्य हैं। परंतु परमात्मतत्त्व सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः परमात्मतत्त्व क्रियासाध्य नहीं है। सिद्धान्तकी एक बहुत बढ़िया और सूक्ष्म बात यह है कि परमात्म-तत्त्व स्वतःसिद्ध है। वह क्रियाओंके द्वारा प्रापणीय नहीं है। यह बात विशेष ध्यान देनेकी है। आपका ध्यान आकृष्ट करनेके लिये कहता हूँ कि यह बात मेरेको बहुत वर्षोंके बाद सन्तोंसे मिली है। यह बात सर्वशास्त्रसम्मत भी है। अतः केवल इस बातकी तरफ ही आप ध्यान दें तो बहुत ही लाभकी बात है। अब इसका खुलासा कहता हूँ, आप ध्यान दें।

हम यह मानते हैं कि परमात्मा सब समयमें हैं, सब जगह हैं, सभीमें हैं और सबके हैं। अब इन चारों बातोंपर विचार करें। (१) परमात्मा सब समयमें हैं, तो इस समय हैं कि नहीं ? अगर इस समय नहीं हैं, तो परमात्मा सब समयमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा।

(२) परमात्मा सब जगह हैं तो यहाँ हैं कि नहीं ? अगर यहाँ नहीं हैं, तो परमात्मा सब जगह हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (३) परमात्मा सभीमें हैं। वे जड-चेतन, स्थावर-जंगम आदि सभीमें हैं। सजीवके दो भेद हैं—स्थावर और जंगम। वृक्ष आदि स्थावर हैं और मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जंगम हैं। जड-चेतनमें, स्थावर-जंगममें परमात्मा हैं। नीचे-से-नीचे समझे जानेवाले प्राणीमें तथा दुष्ट-से-दुष्ट आचरणवाले मनुष्यमें भी परमात्मा हैं। सन्त-महात्माओंमें भी परमात्मा हैं। शुद्ध-से-शुद्ध वस्तुमें तथा अपवित्र-से-अपवित्र वस्तुमें भी परमात्मा हैं। नरकोंमें भी परमात्मा परिपूर्ण हैं। जब वे सबमें हैं तो हमारेमें हैं कि नहीं ? अगर वे हमारेमें नहीं हैं, तो परमात्मा सबमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा। (४) परमात्मा सबके हैं। यह नहीं कि वे साधुओंके हैं, गृहस्थोंके नहीं; भाइयोंके हैं, बहनोंके नहीं; ब्राह्मणोंके हैं, अन्त्यजोंके नहीं। ऐसा आप नहीं कह सकते कि परमात्मा किसी व्यक्ति-विशेषके हैं। परमात्मा दुष्ट-से-दुष्ट पुरुषके भी वैसे ही हैं, जैसे महात्मा-से-महात्मा पुरुषके हैं। परमात्मापर महात्मा-से-महात्माका जैसा हक लगता है, वैसा ही हक दुष्ट-से-दुष्टका भी लगता है। उनमें कभी किंचिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है। उनमें पक्षपात हो ही नहीं सकता, असम्भव बात है। अतः परमात्मा सबके हैं, तो हमारे भी हैं। अगर वे हमारे नहीं हैं, तो परमात्मा सबके हैं—यह कहना नहीं बनेगा। अब सिद्ध क्या हुआ ? कि परमात्मा सब समयमें हैं तो अभी भी हैं, सब जगह हैं तो यहाँ भी हैं, सभीमें हैं तो मेरेमें भी हैं और सबके हैं तो मेरे भी हैं।

उपर्युक्त चार बातोंकी तरफ ध्यान देनेसे एक बात सिद्ध होती है कि परमात्मा हमें नित्यप्राप्त हैं। हम भगवान्‌का भजन करते हैं, नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थ पढ़ते हैं, सन्तोंकी वाणी पढ़ते हैं, तो यह भाव रहता है कि परमात्मा फिर मिलेंगे। अभी हम परमात्माकी प्राप्तिके योग्य नहीं हुए हैं, इसलिये

परमात्मा अभी नहीं मिलेंगे, भविष्यमें मिलेंगे। यह धारणा साधकोंके लिये महान् बाधक है। मनमें तो वे समझते हैं कि हम भगवान्‌की तरफ चल रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अलग होनेका उद्योग कर रहे हैं। यह चिन्तन कर रहे हैं अभी भगवान् नहीं मिलेंगे। जब मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा, तब भगवान् मिलेंगे। अभी कैसे मिल जायँगे ? मैं योग्य नहीं हूँ,मैं पात्र भी नहीं हूँ। साधकके लिये यह धारणा महान् पतन करनेवाली है। विचार करना चाहिये कि क्या हमारी अपात्रतासे भगवान् अटक सकते हैं ? क्या भगवान् इतने कमजोर हैं कि हम अयोग्य हैं, इसलिये वे हमें नहीं मिल सकते ? अगर ऐसी बात है तो फिर उनको दयालु कहना ही निरर्थक है। जब वे योग्यको मिलते हैं, अयोग्यको नहीं मिलते, तो फिर दयाका क्या लेना-देना ?

भगवान्‌ने अपनेको प्राणिमात्रका सुहृद् कहा है—'**सुहृदं सर्वभूतानाम्**' (गीता ५। २९), तो क्या दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्यके भी भगवान् सुहृद् नहीं हैं ? मैं कैसा ही क्यों न हूँ, क्या भगवान् मेरे सुहृद् नहीं हैं ? अगर उनमें पक्षपात है तो वे भगवान् कैसे ? मैं दुष्ट हूँ, ज्यादा अयोग्य हूँ तो भगवान्‌की कृपा मेरेपर अधिक होगी—

पापी हुलस विशेषी अबकी बेर उबारियो। (करुणासागर)

पापीके मनमें अधिक आनन्द होता है; क्योंकि भगवान् पतित-पावन हैं। इसलिये उनपर पतितोंका ज्यादा हक लगता है। माँ भी अपने अयोग्य लड़केका ज्यादा ख्याल रखती है, तो क्या भगवान् मेरा ख्याल नहीं रखेंगे ? वे मेरेपर कृपा न करें—यह हो ही नहीं सकता। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए, नाम-जप करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान दें कि जिह्वामें, नाममें, श्वासमें, मनमें, बुद्धिमें, अन्तःकरणमें, शरीरमें सब जगह परमात्मा परिपूर्ण हैं, पूरे-के-पूरे विद्यमान हैं। वे सबमें लबालब भरे हुए हैं। अब यह शंका होती है कि जब वे परमात्मा सबमें हैं, सब जगह मौजूद हैं तो फिर नाम-जप

क्यों करते हैं ? नाम-जपके बिना हमारेको संतोष नहीं होता; इसलिये करते हैं। सनकादि ऋषियोंकी बात आपने सुनी होगी। वे चारों भाई एक समान ही ब्रह्मज्ञानी हैं। उनमें एक तो भगवान्‌की कथा सुनाता है और बाकी तीन कथा सुनते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी होते हुए भी वे भगवान्‌की कथा कहते रहते हैं; क्योंकि भगवान्‌की कथा ही ऐसी है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'ज्ञानके द्वारा जिनकी चित्-जड-ग्रन्थि कट गयी है, ऐसे आत्माराम मुनिगण भी भगवान्‌की निष्काम भक्ति किया करते हैं; क्योंकि भगवान्‌के गुण ही ऐसे हैं कि वे प्राणियोंको अपनी ओर खींच लेते हैं।)'

भगवान् हैं ही ऐसे कि उनके भजनके बिना साधक रह नहीं सकता। उतना रस, उतना आनन्द कहीं है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसलिये हम उनका भजन करते हैं। भजनके द्वारा हम भगवान्‌को खरीद लेंगे—ऐसा भाव मत रखना। भगवान् तो अपनी कृपासे ही पधारते हैं। भजन-ध्यान, नाम-जप, कीर्तन आदिमें हमारा अनन्य प्रेम होना चाहिये। कारण कि हमने संसारमें आसक्ति, प्रियता करके बड़ी भारी गलती की है। अब इस गलतीके संशोधनके लिये हमें भजन-ध्यान, नाम-जप आदि करना है। परमात्मा भजन-ध्यान आदिके अधीन हैं—ऐसी बात नहीं है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। (गीता ११।५३)

अर्थात् मैं वेदाध्ययन, तप, दान, यज्ञ आदिके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। उपनिषदोंमें आता है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।

(कठ० १।२।२३)

अर्थात् प्रवचनसे, पण्डिताईसे, बहुत शास्त्रोंका बोध होनेसे परमात्मा नहीं मिलते। इसका आप उलटा अर्थ मत लेना कि सत्सङ्ग सुनना, पढ़ना, शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त करना खराब है। इनको तो करते ही रहना है। कहनेका भाव यह है कि इनके द्वारा भगवान्के ऊपर कब्जा नहीं कर सकते, अधिकार नहीं जमा सकते। जैसे, किसी वस्तुकी जो कीमत होती है, वह कीमत पूरी देनेपर उस वस्तुपर हमारा अधिकार हो जाता है। परन्तु भगवत्प्राप्तिके विषयमें ऐसी बात नहीं है। साधन करके भगवान्पर अधिकार नहीं किया जा सकता। उनपर अधिकार करनेका भी एक तरीका है। वह तरीका यह है कि सर्वथा भगवान्का ही हो जाय। तन, मन, वचन, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसीका भी किंचिन्मात्र भी सहारा न लेकर केवल भगवान्का ही हो जाय, तो भगवान् उसके वशमें हो जायँगे। परंतु हमने साधना की है, हमने जप किया है, हमने कीर्तन किया है, हमने अभ्यास किया हैं, हम गीताको जानते हैं, हम अनेक शास्त्रोंको जानते हैं—ऐसी हेकड़ीसे भगवान् वशमें हो जायँ, यह असम्भव बात है। भगवान् वशमें होते हैं तो कृपा-परवश ही होते हैं। उनकी कृपा उसीपर होती है, जो सर्वथा उनका हो जाता है। वे सस्ते हैं तो इतने सस्ते हैं कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इतना सुनते ही भगवान् कहते हैं कि 'हाँ बेटा! मैं तेरा हूँ।' आप कितनी ही विद्या, बुद्धि, योग्यता आदि लगा लो, उससे आपका ज्ञान बढ़ सकता है, आपमें पवित्रता आ सकती है, पर उससे भगवान् वशमें हो जायँ—यह बात नहीं होगी।

भगवान् हमारे हैं और हम भगवान्के हैं—यह सच्ची बात है। इसलिये भजन-ध्यान करते हुए इस बातको विशेषतासे याद रखें कि भगवान् अभी हैं, यहाँ हैं, मेरेमें हैं और मेरे हैं। अब निराशाकी जगह ही कहाँ है? जैसे बालक मानता है कि माँ मेरी है, तो वह माँपर अपना हक लगाता है, पूरा अधिकार जमाता है। माँ इधर-उधर देखती है तो उसकी ठोड़ी पकड़कर कहता है कि तू मेरी तरफ ही देख, बस।

अतः माँको उसकी तरफ देखना पड़ता है। ऐसे ही हम भगवान्‌से कह दें कि हम तुम्हारे हैं, तुम हमारे हो, इसलिये मेरी तरफ ही देखो। सन्तोंने कहा है—'**न मैं देखूँ और को, न तोहि देखन देउँ।**' मैं औरको देखूँगा नहीं और तेरेको भी दूसरी तरफ देखने दूँगा नहीं। ऐसा होनेपर भगवान् वशमें हो जायँगे। हम जो दूसरी तरफ देखते हैं, यही बाधा है।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस ३।१०।४)

इसलिये कोई कैसा ही हो, उसको भगवान्‌की तरफसे निराश नहीं होना चाहिये। आपका विश्वास न बैठे तो जप करो, कीर्तन करो, सब कुछ करो और विश्वास बैठे तो भी सब कुछ करो; क्योंकि यह तो करनेकी चीज है! परन्तु जप-ध्यान आदिके द्वारा भगवान्‌पर कोई कब्जा कर ले—यह बात नहीं है। हम अपने-आपको देकर ही उनपर कब्जा कर सकते हैं। हमने अपने-आपको संसारको दे रखा है, इसीलिये दुःख पा रहे हैं। अगर अपने-आपको भगवान्‌को दे दें, तो निहाल हो जायँ।

बिलकुल शास्त्र-सम्मत बात है कि क्रियाओंके द्वारा भगवान्‌पर कब्जा नहीं कर सकते। कितनी ही योग्यता प्राप्त कर लें, उनपर अधिकार नहीं जमा सकते। कारण कि इनके द्वारा अधिकार उसीपर होता है, जो इनसे कमजोर होता है। सौ रुपयोंके द्वारा हम उसी चीजपर कब्जा कर सकते हैं, जो सौ रुपयोंसे कम कीमतकी है। कोई चीज सौ रुपयोंकी है तो हम एक सौ पचीस रुपये देकर उस चीजपर कब्जा कर सकते हैं। ऐसे ही भगवान्‌को किसी योग्यतासे खरीदेंगे, तो उस योग्यतासे कमजोर भगवान् ही मिलेंगे। अतः ये विरक्त हैं, ये त्यागी हैं, ये विद्वान् हैं, ये बड़े हैं, इनको भगवान् मिलेंगे हमारेको नहीं—यह धारणा बिलकुल गलत है। अगर आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जाओ, उनके बिना रह न सको, तो बड़े-बड़े पण्डित

और बड़े-बड़े विरक्त तो रोते रहेंगे, पहले आपको भगवान् मिलेंगे। आप भगवान्‌के बिना रह नहीं सकोगे तो भगवान् भी आपके बिना रह नहीं सकेंगे। इसलिये परमात्माकी तरफसे किसीको कभी किञ्चिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये। कारण कि संसार आशामात्रसे नहीं मिलेगा। अगर मिल भी जायगा तो टिकेगा नहीं। अगर यह टिक भी जायगा तो आपका शरीर नहीं टिकेगा। संसार अभावस्वरूप है, इसलिये उसका सदा अभाव ही रहेगा। परमात्मा भाव-स्वरूप हैं, इसलिये उनका सदा भाव ही रहेगा, अभाव कभी होगा ही नहीं—यह सिद्धान्त है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१. परमात्मप्राप्तिकी सुगमता

मैं जो बात कहता हूँ, उसको आप कृपा करके मान लें। मैं ऐसी बात कहता हूँ, जो आपकी जानी हुई है। कोई नयी बात नहीं बताता हूँ। कोई भाई-बहन क्या ऐसा जानता है कि मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा ? यह प्रश्न स्वयंके विषयमें है, शरीरके विषयमें नहीं। शरीर तो पैदा होनेसे पहले नहीं था और मरनेके बाद नहीं रहेगा। परन्तु मैं पहले नहीं था और पीछे नहीं रहूँगा तथा अब भी मैं नहीं हूँ—ऐसे अपने अभावका अनुभव भी किसीको होता है क्या ? अपने अभावका अनुभव किसीको कभी नहीं होता। मैं क्या था, क्या रहूँगा, क्या हूँ—ऐसा विचार तो हो सकता है, पर 'मैं हूँ कि नहीं हूँ ?'—ऐसा विचार, सन्देह कभी नहीं होता।

'मैं हूँ'—यह जो अपनी सत्ता, अपना होनापन है, उसका कभी किंचिन्मात्र भी अभाव नहीं होता—'**नाभावो विद्यते सतः**' (गीता २।१६) जिसका कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कमी नहीं आती। जिसमें कोई कमी नहीं आती, उसके लिये क्या चाहिये ? कुछ नहीं चाहिये। कारण कि चाहना तो कमीमें ही होती है। जिसका कभी अभाव नहीं होता, जिसमें कभी कमी नहीं आती, जो नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है, उसके लिये करना क्या बाकी रहा ? जानना क्या बाकी रहा ? पाना क्या बाकी रहा ? परन्तु उस 'है' में स्थित न होकर, जो प्रतिक्षण नष्ट हो रहा है, उस शरीरमें आप स्थित हो जाते हैं, तब करना भी बाकी रहता है, जानना भी बाकी रहता है और पाना भी बाकी रहता है।

इस बातको भी आप जानते हैं कि शरीर प्रतिक्षण बदलता है, कभी भी एक रूप नहीं रहता। अगर शरीर एक रूप रहता, तो बचपनका शरीर अभी भी रहना चाहिये था। परन्तु बचपनका शरीर अभी नहीं है—यह सबका अनुभव है। बचपनका शरीर किसी एक दिनमें, एक महीनेमें, अथवा एक वर्षमें नहीं बदला है, प्रत्युत प्रत्येक वर्षमें, प्रत्येक महीनेंमें, प्रत्येक दिनमें, प्रत्यक घण्टेमें, प्रत्येक मिनटमें और प्रत्येक सेकेण्डमें बदलता है। अतः केवल बदलनेके पुञ्जका नाम शरीर है। शरीरादि पदार्थ स्थूल बुद्धिसे दीखते हैं। सूक्ष्म बुद्धिसे देखें तो केवल परिवर्तन-ही-परिवर्तन दीखेगा, वस्तु नहीं दीखेगी। जैसे पंखा चलता है तो गोल चक्कर दीखता है, पर वास्तवमें गोल चक्कर नहीं है। पंखेकी ताड़ी अलग-अलग है, पर तेजीसे घूमनेके कारण गोल चक्कर दीखता है। ऐसे ही तेजीसे बदलनेके कारण पदार्थ, शरीर दीखता है। यह शरीर है—ऐसा कहनेमें तो देरी लगती है, पर इसके बदलनेमें देरी नहीं लगती। यह तो हरदम बदलता रहता है। परन्तु स्वयं (स्वरूप) नित्य-निरन्तर ज्यों-का-त्यों रहता है। नित्य- निरन्तर रहनेवाले स्वयंको जब प्रतिक्षण बदलनेवाले शरीरके साथ मिला लेते हैं, तब कामना, इच्छा, वासना, तृष्णा आदि पैदा होती हैं। इसीसे सब अनर्थ होते हैं।

अगर हम नित्य-निरन्तर रहनेवाले नहीं होते, तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अभी और अब किये हुए कर्मोंका फल आगे किसको भोगना पड़ेगा ? हम पहले थे, तभी तो पहले किये हुए कर्मोंका फल अब भोग रहे हैं; और हम आगे रहेंगे, तभी तो अभी किये हुए कर्मोंका फल आगे भोगना पड़ेगा। पहले हमने जो कर्म किये थे, वे परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही किये थे और अब उनका फल भी परिवर्तनशील शरीरके साथ मिलकर ही भोगते हैं। अभी शरीरके साथ मिलकर जो कर्म करते हैं, उनका फल भी शरीरके साथ मिलकर ही भोगेंगे। अगर हम शरीरके साथ न मिलें तो न पहलेका कर्म स्पर्श करेगा, न अभीका कर्म स्पर्श करेगा और न भविष्यका कर्म

स्पर्श करेगा। कारण कि 'है' में कभी अभाव नहीं होता और अभाव हुए बिना उसमें दूसरी वस्तुका स्पर्श नहीं होता, प्रवेश नहीं होता। वह 'है' सदा ज्यों-का-त्यों रहता है, इसलिये उसका अनुभव करनेवाले महापुरुषोंने कहा है—

है सो सुन्दर है सदा, नहिं सो सुन्दर नाहिं।
नहिं सो परगट देखिये, है सो दीखे नाहिं॥

'है' तो सबका द्रष्टा है, वह दीखे कैसे? आँखसे सबको देखते हैं, पर आँख नहीं दीखती, परन्तु जिससे देखते हैं, वही आँख है। इसी प्रकार हम 'है' को अर्थात् अपने होनेपनको देख नहीं सकते; परन्तु जिससे यह सब दीख रहा है, वही 'है' है। इस बातको आप मान लें। आप कह सकते हैं कि हमें उसका अनुभव नहीं हो रहा है। अतः उसके अनुभवके लिये आप जिज्ञासा करें, व्याकुल हो जायँ।

आप कृपा करके ऐसा मत मानें कि वह 'है' दूर है, वह आयेगा अथवा हम उसके पास जायँगे, तब उससे मिलन होगा। नहीं तो भजन करते हुए आप तो समझते हैं कि हम भगवान्‌के पास जा रहे हैं, पर वास्तवमें भगवान्‌से अपनेको दूर कर रहे हैं, भगवान्‌से अपने सम्बन्धके अभावको दृढ़ कर रहे हैं। भगवान् तो फिर मिलेंगे, अभी तो नहीं मिलेंगे—ऐसी धारणा रखते हुए राम-राम जपते हैं, कृपा करके इस धारणाको छोड़ दो। हमें अनुभव नहीं हो रहा है—यह बात मानो तो कोई हर्ज नहीं, पर यह बात दृढ़तासे मान लो कि भगवान् सब जगह मौजूद हैं। 'मैं हूँ'—इसमें भी भगवान् हैं, मनमें भी हैं, बुद्धिमें भी हैं, वाणीमें भी हैं। राम-राम-राम—इस आवाजमें भी भगवान् हैं। देखनेमें, सुननेमें, समझनेमें जो कुछ भी आ रहा है, वह सब भगवान् ही हैं। भगवान् कहते हैं—

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥

(श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है—यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये।

अतः 'भगवान् हैं'—इतना आप मान लो, भले ही उनका अनुभव अभी न हो। सन्त-महात्मा कहते हैं, वेद-पुराण कहते हैं, बड़े-बड़े जानकार कहते हैं कि 'वह है'। बस 'वह है'—ऐसा मानते हुए लगनपूर्वक राम-राम जप करो तो बहुत जल्दी अनुभव हो जायगा। उसका अनुभव कैसे हो ? क्या करूँ ? कैसे करूँ ? किससे पूछूँ ?—यह जिज्ञासा जोरदार हो जाय। राम-नामको छोड़ो मत; क्योंकि इसके सिवाय संसारमें और कोई सहारा नहीं है। मरनेपर भी कहते हैं—'राम-नाम सत्य है'। शरीर-संसार असत् है। अतः राम-राम करते रहो। 'र' में 'आ' में, 'म' में, जीभमें, मनमें, स्फुरणामें, चिन्तनमें, बुद्धिमें, मैंपनमें—सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण है। जो सबमें रमता करता है और जिसमें सभी रहते हैं, उसका नाम 'राम' है।

राम-नामका जप बहुत ही महान् और सुगम साधन है। कल लकवेकी बीमारीवाले एक भाई मिले थे, वे और कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल राम-राम बोल सकते थे। उनसे भी पहले एक भाई कलकत्तामें मिले थे, वे भी कुछ नहीं बोल सकते थे, केवल 'राम'—इतना कह सकते थे। राम-नाम लोकमें, परलोकमें सब जगह शान्ति देनेवाला, सबको सुख देनेवाला है।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू॥

(मानस १। २०। १)

आप यह बात चाहे श्रद्धासे मान लो, चाहे विश्वाससे मान लो, चाहे युक्तिसे मान लो, चाहे अनुभवसे मान लो, चाहे सोच-समझकर मान लो कि परमात्मा सब जगह हैं; जहाँ आप हो, वहीं परमात्मा हैं। आपकी एकता परमात्माके साथ है, बदलनेवाले शरीरके साथ नहीं। शास्त्र भी डंकेकी चोटसे कहता है कि परमात्मा सब जगह हैं, सबमें

हैं, सबके अपने हैं, सबके सुहृद् हैं। आप इसको दृढ़तासे मान लो। साधकसे बड़ी भूल यही होती है कि वह 'भजन' करेंगे, फिर परमात्मा मिलेंगे—ऐसा मान लेता है। यह भविष्यकी आशा ही महान् बाधक है। शास्त्रोंसे, सन्तोंके कहनेसे, किसीके कहनेसे यह मान लो कि परमात्मा तो मिले हुए ही हैं, केवल हमें दीखते नहीं। वर्तमानमें परमात्माका अभाव स्वीकार मत करो। अपनेको उनका अनुभव नहीं हो रहा है; अतः अनुभव कैसे हो—इसके लिये रात-दिन राम-राम रटना शुरू कर दो। फिर देखो तमाशा! कितनी जल्दी अनुभव होता है।

जो जिव चाहे मुक्ति को, तो सुमिरीजै राम।
हरिया गैले चालतां, जैसे आवै गाम॥

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१०. अनुभव और विश्वास

बहुत सरल और सुगम दो बातें हैं—एक बात तो अनुभवकी है और एक बात विश्वासकी है। अनुभवकी बात यह है कि संसार प्रतिक्षण बदल रहा है, कभी एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता। विश्वासकी बात यह है कि परमात्मा सब जगह हैं। वे सदा ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं, कभी बदलते नहीं। कई युग बदल जाते हैं, कई ब्रह्मा बदल जाते हैं, पर वह परमात्मतत्त्व ज्यों-का-त्यों ही रहता है। ऐसे ही उसके अंश जीवात्माका भी कभी अभाव नहीं होता।

जो अपरिवर्तनशील है, वह परमात्मतत्त्व सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तुओंमें, सम्पूर्ण प्राणियोंमें परिपूर्ण है। वह सबको प्राप्त है। उसकी तरफ दृष्टि न हो—यह अलग बात है, पर वह तत्त्व अप्राप्त नहीं है; क्योंकि वह सबमें परिपूर्ण है और सबको मिला हुआ है। उसका कभी अभाव नहीं होता; क्योंकि वह भावरूप है। केवल उधर दृष्टि नहीं है, वह तो है ही। दृष्टि करो तो वही है; दृष्टि न करो तो वही है। आप उसको मानें तो भी वही है, न मानें तो भी वही है। आप जानें तो वही है, न जानें तो वही है। अब इसमें आप यह विश्वास कर लें कि वह परमात्म-तत्त्व प्राप्त है। फिर उसका अनुभव हो जायगा।

आपको अनुभवकी यह बात बतायी कि सब संसार बदलनेवाला है और विश्वासकी यह बात बतायी कि परमात्मतत्त्व नहीं बदलनेवाला है और सबको प्राप्त है। जो बदलनेवाला और अनित्य है, वह 'प्रतीत' हो रहा है। जो नहीं बदलनेवाला और नित्य है, वह 'प्राप्त' है। इस प्रकार दो भेद हुए—एक प्रतीत है और एक प्राप्त है।

हम कहते हैं कि धन मिल गया, मान मिल गया, आदर मिल

गया आदि-आदि, पर वास्तवमें मिला कुछ नहीं। यह तो प्रतीति है। यदि वास्तवमें मिल जाता, तो फिर और मिलनेकी इच्छा नहीं रहती। जबतक मिलनेकी, पानेकी इच्छा है, तबतक वास्तविक चीज मिली नहीं। गीता साफ कहती है—**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**(६।२२) जिस लाभकी प्राप्ति होनेपर उससे बढ़कर कोई दूसरा लाभ है—ऐसा वह मान ही नहीं सकता। जबतक भीतर यह इच्छा रहेगी कि और लाभ मिले, चाहे धन मिले, चाहे मान मिले, चाहे स्वास्थ्य मिले, तबतक वास्तवमें आपकी वस्तु आपको मिली नहीं—यह पक्की बात है। अपनी वास्तविक वस्तु मिल जानेपर 'और मिले'— यह इच्छा सदाके लिये शान्त हो जाती है। फिर कोई इच्छा बाकी नहीं रहती।

जो दीखता तो है, पर मिलता नहीं—इसका नाम 'प्रतीति' है। मनुष्यके भीतर 'प्रतीति' का जितना आदर है, उतना 'प्राप्त'का आदर नहीं है—यह है समस्या ! अतः जो 'प्राप्त' है, उसपर दृढ़तासे विश्वास करना है कि बालकपनमें मैं जो था, वही मैं आज हूँ। शरीर बदला, मन बदला, भाव बदले, इन्द्रियाँ बदलीं, देश बदला, काल बदला, परिस्थिति बदली, घटनाएँ बदलीं, क्रियाएँ बदलीं—यह सब कुछ बदला, पर मैं नहीं बदला; मैं तो वही हूँ। वेदान्तमें आत्माकी नित्यताके लिये यह प्रबल युक्ति है कि 'मैं वही हूँ।'

कोई दो आदमी आठ-दस वर्षोंके बाद मिले। उनमें एक बड़ी अवस्थामें था और एक छोटी अवस्थामें था। छोटी अवस्थावालेने पूछा—'बाबाजी, आप मेरेको जानते हो ?' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'भैया, मैं तो नहीं जानता, तुम मेरेको जानते हो क्या ?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हाँ, मैं तो आपको जानता हूँ। देखो, अमुक समयमें मैं आपसे मिला था और हम दोनोंमें अमुक-अमुक बातें हुई थीं। मुझमें ज्यादा परिवर्तन होनेसे आप पहचान नहीं सके।' बड़ी अवस्थावाला बोला—'अच्छा वही हो तुम।' छोटी अवस्थावालेने

पूछा—'आजकल कैसा चल रहा है!' बड़ी अवस्थावालेने उत्तर दिया—'आजकल तो बड़ी तकलीफमें हूँ। पैदा है नहीं और आफत आ रही है। तुम कैसे हो?' छोटी अवस्थावालेने कहा—'हमारा काम तो बहुत अच्छा चल रहा है।' अब इसमें विचार यह करना है कि मैं भी वही हूँ और तू भी वही है—इसमें सन्देह नहीं, पर परिस्थितिमें बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंकी अवस्था बदल गयी, परिस्थिति बदल गयी, पर वे दोनों वही हैं। अतः आपके साथ न अवस्था रहती है, न परिस्थिति रहती है, आप स्वयं इनसे अलग हैं। ये सब बदलनेवाले हैं, प्रतीतिमात्र हैं। इनको सच्चा माननेसे ही अनर्थ होते हैं। जितने भी अनर्थ होते हैं, इनको स्थायी माननेसे ही होते हैं।

अब प्रश्न होता है कि प्रतीति तो दीखती है, पर प्राप्त नहीं दीखता; अतः हम प्राप्तको कैसे मानें? उपनिषदोंमें एक वाक्य आता है—**'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्'** (बृहदारण्यक २।४।१४) 'जो सबको जाननेवाला है, उसको किससे जानें?' जैसे आँखसे सब कुछ दीखता है, पर आँख नहीं दीखती। दर्पणमें आँखकी आकृतिको भले ही देख लो, पर आँख (नेत्रेन्द्रिय) नहीं दीखती अर्थात् जो देखनेकी शक्ति है, वह नहीं दीखती। उस देखनेकी शक्तिसे ही सब कुछ दीखता है। ऐसे ही यह प्रतीति जिससे प्रतीत होती है, जो इस प्रतीतिको जाननेवाला है, वह प्राप्त है। अगर वह न होता तो प्रतीति किसको होती? जो इस परिवर्तनशील प्रतीतिको देखनेवाला है उसको ईश्वर कह दो, जीवात्मा कह दो, सत् कह दो, ब्रह्म कह दो—ये उसको कहनेके कई नाम हैं, वास्तवमें वह एक ही तत्त्व है।

अब एक शंका होती है कि परमात्मतत्त्व तो प्राप्त है ही, चाहे उसको प्राप्त बताओ अथवा न बताओ, फिर उसपर विश्वास करनेकी क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है कि जबतक परमात्मापर हमारा विश्वास नहीं होगा, तबतक परमात्मा प्राप्त होते हुए भी हमारे काम नहीं आयेंगे। विश्वास करो तो लाभ होगा, नहीं तो कुछ नहीं

मिलेगा, केश भी नहीं मिलेगा। इसलिये परमात्मापर श्रद्धा-विश्वास तो करने ही पड़ेंगे। अभी मैंने उस परमात्मतत्त्वकी 'है' की प्रबल-युक्ति बतायी कि जिससे प्रतीति होती है, वह 'है' है। पर लाभ उस 'है' को माननेसे, उसपर विश्वास करनेसे ही होगा।

एक आदमीकी गाय बीमार हो गयी। वह वैद्यके पास गया। वैद्यने कहा कि आप गायको आध पाव काली मिर्च पीसकर दे देना और उसके ऊपर पावभर घी दे देना। उसने बाजारसे आध पाव काली मिर्च खरीदी और पीसकर गायको खिला दी। दूसरे दिन वह वैद्यके पास आकर बोला—'साहब, गाय तो और ज्यादा बीमार हो गयी!' वैद्यने कहा—'कैसे हो गयी? उसको काली मिर्च दी थी क्या?' वह बोला—'हाँ, दी थी'। वैद्यने पूछा— 'घी दिया था क्या?' वह बोला—'घी तो नहीं दिया साहब! क्योंकि घी तो गायमें था ही, देनेकी क्या जरूरत?' 'मेरी गायके रोजाना पावभर घी निकलता ही है। कल मैंने गायको दुहा ही नहीं, तो वह पावभर घी उसके भीतर ही रहा; और काली मिर्च उसको दे ही दी।' गायको न दुहनेसे, काली मिर्च देनेसे और घी न देनेसे गरमी ज्यादा बढ़ गयी, जिससे गाय ज्यादा बीमार हो गयी। गायमें घी होते हुए वह काममें नहीं आया। अगर घीको निकालकर उसे देते तो वह काम आ जाता। इसी तरह वह परमात्मतत्त्व प्राप्त होते हुए भी श्रद्धा-विश्वासके बिना हमारे कुछ काम नहीं आयेगा। प्राप्त होते हुए भी वह हमारे लिये अप्राप्तकी तरह ही रहेगा। उस प्राप्त-तत्त्वकी प्राप्ति-(अनुभूति-) के लिये ही तो हम सब यहाँ इकट्ठे हुए हैं। वह प्राप्त है तो फिर दीखता क्यों नहीं—ऐसी चटपटी लगेगी, तब उसका अनुभव होगा। केवल बातें बनाते रहोगे तो कुछ हाथ नहीं लगेगा। मेरी तरह आप भी व्याख्यान दे दोगे, पर मिलेगा कुछ नहीं। इसलिये कहता हूँ कि आप उस तत्त्वसे वञ्चित क्यों रहते हो? बच्चेको मालूम हो जाय कि माँ यहाँ है तो वह रोने लग जायगा कि माँ है तो मुझे गोदमें क्यों नहीं लेती! 'परमात्मतत्त्व प्राप्त

है'—ऐसा इसलिये कहा है कि उसको जाननेके लिये आपमें चटपटी लग जाय। 'वह तो प्राप्त ही है, अब उसको जाननेकी, उसपर विश्वास करनेकी क्या जरूरत'—यह तो महान् मूर्खता है। प्राप्तकी ही प्राप्ति (अनुभूति) करनी है। उसकी प्राप्ति प्रतीतिको सच्चा न माननेसे ही होगी—यह है चाभी। प्रतीतिको सच्चा माननेसे उसकी प्राप्ति कभी नहीं होगी, भले ही कितना पढ़ जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, छहों शास्त्र पढ़ जाओ। प्रतीतिको सच्चा मानते रहोगे कि धन भी है, सम्पत्ति भी है, उससे हम ऐसे हो जायँगे, नीरोग हो जायँगे, इतने मकान बना लेंगे आदि-आदि, तो सीधे नरकोंमें जाओगे, कोई रोकनेवाला नहीं। नरकोंमें जानेसे न धन रोकेगा, न मकान रोकेगा, न कुटुम्बी रोकेंगे।

श्रोता—महाराजजी! यह तो पता चलता है कि प्रतीति रहनेवाली नहीं है, फिर भी वह हमें आकृष्ट करती है।

स्वामीजी—आप प्रतीतिको प्रतीति न मानकर नित्य मानते हैं, तभी वह खींचती है। सिनेमामें बढ़िया भोजन दीखनेपर उसको खानेकी प्रवृत्ति होती है क्या? नहीं होती; क्योंकि जानते हैं कि मिलेगा कुछ नहीं। ऐसे ही संसारसे भी कुछ मिलनेवाला नहीं है। आज दिनतक संसारसे किसीको कुछ नहीं मिला। आप चाहे मिला हुआ मान लो, पर है यह कोरा वहम! संसार कहते ही उसको हैं, जो जा रहा है—**'सम्यक् प्रकारेण सरतीति संसारः'**। जो प्रतिक्षण जा रहा है, वह मिला कहाँ? इस संसारसे विमुख होनेपर ही उस परमात्मतत्त्वका अनुभव होगा।

नारायण! नारायण! नारायण!

११. मनुष्यका वास्तविक सम्बन्ध

संसारसे हमारा सम्बन्ध निरन्तर नहीं रहता—इस वास्तविकताको हम सब जानते हैं। परंतु इस जानकारीपर हम कायम नहीं रहते—इतनी गलती है। अगर इस जानकारीपर हम कायम रह जायँ अर्थात् संसारसे अपना सम्बन्ध न मानें तो आज, अभी बेड़ा पार है ! हम संसारसे जो अपना सम्बन्ध मानते हैं, उसको छोड़े बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके सम्बन्धके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते, जी ही नहीं सकते। इस बातपर आप खूब ध्यान देकर विचार करें। संसारकी जिन वस्तुओं, व्यक्तियों, पदार्थोंके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं, उनके सम्बन्धसे हमें उतना सुख नहीं मिलता, जितना उनके वियोगसे सुख मिलता है। जैसे हमारेको गाढ़ नींद आती है तो उस समय हमारा किसी व्यक्ति या वस्तुसे किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। गाढ़ नींदमें हम सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंको भूल जाते हैं। उनको भूलनेसे जितना सुख मिलता है, उतना सुख उनको याद रखनेसे, उनके साथ रहनेसे नहीं मिलता—यह हम सबका अनुभव है।

अब ध्यान देकर इस बातको आप ठीक तरहसे समझें। नींद लेनेकी प्रवृत्ति हमारी जन्मसे ही है। आप याद करें तो बचपनसे लेकर आज-दिनतक हम नींद लेते ही रहे हैं अर्थात् संसारको भूलते ही रहे हैं। नींद लिये बिना अर्थात् संसारसे विमुख हुए बिना हम आठ पहर भी जी नहीं सकते। अगर कई दिनतक नींद न आये तो मनुष्य पागल

हो जाय। जितनी खुराक नींदसे हमें मिलती है, उतनी खुराक पदार्थों, व्यक्तियोंके सम्बन्धसे नहीं मिलती। पदार्थों, व्यक्तियोंका सम्बन्ध रखनेसे तो थकावट होती है। नींदसे वह थकावट मिटती है और शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरणमें नयी शक्ति, स्फूर्ति, ताजगी आती है। पदार्थों और व्यक्तियोंके सम्बन्धसे ताजगी नष्ट होती है।

बचपनमें खिलौने जितने अच्छे लगते थे, उतने पदार्थ और व्यक्ति अच्छे नहीं लगते थे। खेल जितना अच्छा लगता था, उतना घर अच्छा नहीं लगता था। अब युवावस्थामें रुपये अच्छे लगने लग गये। अब खिलौने अच्छे नहीं लगते, पर नींद अब भी वैसी-की-वैसी प्रिय लगती है। जब खिलौने प्रिय लगते थे, तब भी नींद अच्छी लगती थी और नींदसे सुख मिलता था। अब रुपये अच्छे लगने लगे तो भी नींद अच्छी लगती है। परन्तु रुपयोंको भुला करके जो नींद आती है, वह नींद रुपयोंसे भी ज्यादा अच्छी लगती है। जब विवाह हुआ तब स्त्री, पुत्र, परिवार बड़ा अच्छा लगने लगा, जिनके लिये रुपये भी खर्च कर देते हैं। परन्तु जब गहरी नींद आने लगती है, तब स्त्रीको, पुत्रको, मित्रोंको, कुटुम्बियोंको भी छोड़ देते हैं। जिनके मोहमें फँसकर झूठ, कपट, बेईमानी, चोरी, ठगी, धोखेबाजी आदि कर लेते हैं, उन सबका भी गाढ़ नींदमें त्याग कर देते हैं। जब वृद्धावस्था आती है, तब परिवारमें, पोता-पोती, दोहता-दोहतीमें मोह बढ़ जाता है; परन्तु गाढ़ नींद आनेपर इनको भी छोड़ देते हैं। अगर वैराग्य हो जाता है तो धन, मकान, स्त्री, पुत्र, परिवार आदिको छोड़कर साधु हो जाते हैं, विरक्त-त्यागी बन जाते हैं, तब भी नींद लेते हैं। नींदमें साधुपनेका भी वियोग होता है, विरक्तत्यागीपनेका भी वियोग होता है। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थितिमें नींद अच्छी लगती है। नींद नहीं आये तो अच्छा है—ऐसा भाव कभी नहीं होता, प्रत्युत नींद आ जाय तो अच्छा है—यह भाव रहता है। नींद लेनेकी पूरी तैयारी करते हैं। अच्छा बिछौना बिछाते हैं। खूब बढ़िया तकिया लगाते हैं, गद्दा लगाते हैं,

पंखा लगाते हैं, जिससे आरामसे नींद आ जाय। हल्ला-गुल्ला न हो, ऐसी व्यवस्था करते हैं। जब नींद आने लगती है, तब तरह-तरहके भोग, मनोहर दृश्य, सिनेमा आदि नहीं सुहाते। तब यही कहते हैं कि भाई, अब तो हमें नींद लेने दो; अब हम सोयेंगे। इससे सिद्ध हुआ कि नींद सब वस्तु-व्यक्तियोंसे बढ़कर प्यारी है। नींदके लिये सबका त्याग किया जा सकता है, पर नींदका त्याग नहीं किया जा सकता। परंतु कहीं भगवान्‌के भजनमें प्रेम हो जाय, भजनमें रस आने लग जाय, तो फिर नींद भी अच्छी नहीं लगती। संतोंका पद आता है—**'बैरिन हो गई निंदरिया'** अर्थात् यह नींद तो हमारी वैरिन हो गयी; नींद नहीं आये तो अच्छा है। इससे सिद्ध होता है कि जिसके लिये प्यारी-सी-प्यारी नींदका भी त्याग हो जाता है, उस परमात्माके साथ ही हमारा वास्तविक सम्बन्ध है। संसारके साथ हमारा सम्बन्ध बनावटी है, भूलसे माना हुआ है। इसलिये संसारके संयोगके बिना तो हम रह सकते हैं, पर वियोगके बिना हम रह ही नहीं सकते। संसारके वियोगसे सुख होता है—यह हम सबका अनुभव है।

कितनी विलक्षण बात है कि संसारके वियोगका अनुभव जीवमात्रको है ! मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सब नींद लेते हैं। तात्पर्य है कि संसारसे वियोग हरेक प्राणी चाहता है। संसारके संयोगमें तो कमीसे भी काम चल सकता है; जैसे—किसीको भोजन अच्छा मिलता है, किसीको भोजन अच्छा नहीं मिलता; किसीको मकान मिलता है, किसीको मकान नहीं मिलता, इसमें सबकी विषमता है। दो मनुष्योंकी भी आराम-सामग्री एक समान नहीं होती। परन्तु नींद सबकी एक समान होती है। यहाँ एक बात सोचनेकी है कि नींदकी तरफ हमारी जो प्रवृत्ति होती है, उसमें हमें न कुछ उद्योग करना पड़ता है, न कुछ चिन्तन करना पड़ता है, न कुछ काम करना पड़ता है, न कुछ याद करना पड़ता है। तात्पर्य है कि कुछ न करनेसे नींद आ जाती है। नींदके लिये ऐसा नहीं है कि इतना उद्योग करो, तब नींद आयेगी !

नींदमें सबसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। परन्तु संसारके साथ माने हुए सम्बन्धको पकड़े हुए ही नींद लेते हैं, इसलिये जगनेपर फिर उसीमें (संसारमें) लग जाते हैं। फिर भी संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध स्थिर नहीं रहता। अवस्था बदल जाती है, परिस्थिति बदल जाती है, घटना बदल जाती है, व्यक्ति बदल जाते हैं, देश बदल जाता है, काल बदल जाता है—ये सब तो बदल जाते हैं, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद कभी नहीं बदलता। कारण कि संसारके साथ सम्बन्ध तो हमारा माना हुआ है, अवास्तविक है, पर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद माना हुआ नहीं है, प्रत्युत वास्तविक है। इसलिये संसारसे निरन्तर सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है। बालकपनसे सम्बन्ध-विच्छेद हुआ, जवानीसे हुआ, वृद्धावस्थासे हुआ, नीरोगतासे हुआ, रोगीपनसे हुआ, धनवत्तासे हुआ, निर्धनतासे हुआ और कई व्यक्तियोंसे संयोग होकर वियोग हुआ। इस प्रकार संसारका सम्बन्ध तो छिन्न-भिन्न होता ही रहता है; क्योंकि यह सम्बन्ध नकली है, माना हुआ है। हमने बड़ी भारी भूल यह की कि माने हुए सम्बन्धको तो सच्चा मान लिया, पर संसारसे जो सम्बन्ध-विच्छेद हो रहा है, उसकी तरफ ख्याल ही नहीं किया कि यह भी तो हमारा अनुभव है। संसारके सम्बन्ध-विच्छेदसे जितना सुख मिलता है, उतना पदार्थोंसे नहीं मिलता। अगर पदार्थोंसे सुख मिलता, तो नींद छूट जाती।

जब भगवान्‌के भजनमें रस आने लगता है, तब नींद, भूख और प्यास भी छूट जाती है, इनकी भी परवाह नहीं रहती। नींद, भूख और प्यास शरीर-निर्वाहकी खास चीजें हैं, पर भजनमें इनको भी भूल जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा असली सम्बन्ध भगवान्‌के साथ है। असली सम्बन्ध जाग्रत् हो जाय तो फिर नकली सम्बन्धको कौन रखना चाहेगा ? शरीर-संसारके साथ माने हुए नकली सम्बन्धोंको हम छोड़ दें तो आज ही निहाल हो जायँ ! सम्बन्धको छोड़कर जाना कहीं नहीं है, न जंगलमें जाना है, न साधु बनना है। केवल यह मान लेना

है कि यह संसार वास्तवमें हमारा नहीं है। हमारे तो केवल भगवान् ही हैं। व्यक्तियोंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनकी सेवा करनेके लिये है। वस्तुओंसे हमारा जो सम्बन्ध दीखता है, वह उनको दूसरोंकी सेवामें लगानेके लिये है। न तो हमारे लिये कोई व्यक्ति है और न हमारे लिये कोई वस्तु है। जो हमारे कहलाते हैं, उन माता, पिता, स्त्री, पुत्र, भाई, भौजाई आदिकी सेवा कर दो, बस। वस्तुएँ तो उनकी सेवाके लिये हैं और वे सेवनीय हैं। शरीर उनका ही है, इसलिये शरीरको उनकी सेवामें लगा दो। हमें उनसे कुछ लेना ही नहीं है। उनकी वस्तुओंको उन्हींकी सेवामें लगा देना है। इसीको कर्मयोग कहते हैं—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

खूब तत्परतासे, अच्छी तरहसे कर्म करना है; क्योंकि मनुष्य-शरीर सेवा करनेके लिये ही मिला है, भोग भोगनेके लिये नहीं। हमें जो विवेक मिला है, वह शरीरके साथ माने हुए सम्बन्धका विच्छेद करनेके लिये मिला है, शरीरके साथ चिपकनेके लिये नहीं।

संसारके साथ हमारा सम्बन्ध केवल सेवा करनेके लिये ही है। सेवाके सिवाय संसारसे और कोई मतलब नहीं। माता-पिताकी सेवा करनी है, स्त्री-पुत्रका पालन-पोषण करना है। सेवा करनी है। उनके साथ सम्बन्ध माननेसे वास्तविक शान्ति नहीं मिलती। शान्ति तो उनकी सेवा करके सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे मिलती है। संसारके साथ माना हुआ ऐसा कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जिसके लिये मनुष्य नींद, भूख और प्यास भी छोड़ दे। परंतु भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेपर नींद

अच्छी नहीं लगती, खाना-पीना अच्छा नहीं लगता, यहाँतक कि शरीरका मोह भी नहीं रहता; क्योंकि भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है।

नारदजीके पूर्वजन्मके वर्णनमें आता है कि जब उनकी माताकी मृत्यु हो गयी, तब वे जंगलकी ओर चल दिये। उनको यह ख्याल ही नहीं आया कि जंगलमें क्या खायेंगे-पीयेंगे ? कहाँ रहेंगे ? वहाँ एक वृक्षके नीचे बैठे। उनका मन भगवान्‌में लग गया, समाधि लग गयी। उनको अपने हृदयमें भगवान्‌का रूप दीखने लगा। कुछ देर बाद सहसा समाधि खुल गयी तो वे बड़े व्याकुल हुए। तब आकाशवाणी हुई कि इस शरीरके छूटनेके बाद जब ब्रह्माजीके पुत्ररूपसे तुम्हारा जन्म होगा, तब मेरे दर्शन होंगे। ऐसी आकाशवाणी सुनकर नारदजी प्रतीक्षा करने लगे कि कब यह शरीर छूटेगा, कब मैं मरूँगा ! दुनिया चाहती है कि हम सदा जीते ही रहें और वे चाहते हैं कि मैं मर जाऊँ !

संसारमें अपने शरीरके जीनेकी जितनी इच्छा होती है, उतनी कुटुम्बके जीनेकी इच्छा नहीं होती। गाय अपने बछड़ेपर बहुत स्नेह रखती है। वह बछड़ेको छोड़कर जंगलमें चरनेको भी नहीं जाती। परन्तु जब उसको लाठी मारने लगते हैं, तब वह जंगलमें चली जाती है। जंगलमें घास चरते-चरते जब उसको बछड़ा याद आ जाता है, तब वह 'हुम्'—ऐसे हुंकार करती है और उसके मुँहसे घास गिर जाता है। शामके समय जब वह वापिस लौटती है, तब वह सब गायोंसे आगे भागती है और हुंकार करती हुई बछड़ेके पास जाती है, उसको प्यार करती है, दूध पिलाती है। इस प्रकार उसका बछड़ेपर भी प्रेम है और घासपर भी प्रेम है, पर अपने शरीरपर सबसे ज्यादा प्रेम है। जब शरीरपर लाठी पड़ती है, तब वह बछड़ेको, घासको, सबको छोड़ देती है। जब शरीरपर आफत आती है, तब किसीकी परवाह नहीं करती। तात्पर्य है कि शरीरमें उसका एक नम्बरका प्रेम

है, बछड़ेमें दो नम्बरका प्रेम है और घासमें तीन नम्बरका प्रेम है। अतः शरीरसे मोह तो पशुका भी होता है। परंतु मनुष्य शरीरसे मोह छोड़कर भगवान्‌से प्रेम कर सकता है।

शरीर तो हरदम बदलता है; अतः यह तो हरदम रहता नहीं, पर भगवान् हरदम रहते हैं। हम तो भगवान्‌के ही हैं—यह जब पहचान हो जाती है, तब मनुष्य शरीरकी आसक्ति-कामना छोड़कर भगवान्‌में ही लग जाता है। अतः भगवान्‌के साथ हमारा सम्बन्ध असली है और शरीर-संसारके साथ हमारा सम्बन्ध नकली है—इस वास्तविकताको जानकर सब प्रकारसे भगवान्‌में ही लग जाना चाहिये।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१२. शरीरसे अलगावका अनुभव

भगवान्‌ने मनुष्यको कल्याणकी सामग्री कम नहीं दी है, प्रत्युत बहुत ज्यादा दी है। उम्र भी बहुत ज्यादा दी है। कल्याण मिनटोंमें हो सकता है, पर उसके लिये वर्षोंकी उम्र दी है। थोड़े-से विचारसे कल्याण हो सकता है, पर विचार करनेकी शक्ति बहुत दी है। सब सामग्री इतनी ज्यादा दी है कि मनुष्य अपना कल्याण कई बार कर ले ! जब कि वास्तवमें एक बार कल्याण करनेके बाद दूसरी बार कल्याण करनेकी जरूरत ही नहीं रहती। बहुत विचित्र सामग्री भगवान्‌ने मनुष्यको दी है। जैसे, एक बातपर आप विचार करें—आपको इस बातका बिलकुल पक्का ज्ञान है कि बचपनसे लेकर आजतक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, घटना सब बदल गये, पर मैं वही हूँ। बदलनेवालेको छोड़ दे और जो नहीं बदला है, उसको पकड़ ले तो अभी इसी क्षण बेड़ा पार है ! जो बदलता है, वह मेरा स्वरूप नहीं है और जो नहीं बदलता वह मेरा स्वरूप है। बस इतना ही काम है।

अनेक परिस्थितियोंमें, अनेक घटनाओंमें आप एक रहते हैं। अनेक देशोंमें घूम-फिरकर भी आप एक रहते हैं। बहुत समय बीतनेपर भी आप वही रहते हैं। सब कुछ बदलनेपर भी आप वही रहते हैं। जो वही रहता है, कभी बदलता नहीं, उसको आप बदलनेवालोंसे अलग करके देखें तो बस, तत्त्वज्ञान हो गया; और उन दोनोंको मिलाकर देखें तो अज्ञान हो गया।

साधन करनेवाले भाई-बहनोंके मनमें एक बात जँची हुई है कि मन निर्विकार हो जाय, किसी घटनाका असर न पड़े तो तत्त्वज्ञान हो गया; और असर पड़ता है तो तत्त्वज्ञान नहीं हुआ। इस बातको आप ठीक तरहसे समझें कि असर किसपर पड़ता है ? असर मनपर पड़ता

है, बुद्धिपर पड़ता है, शरीरपर पड़ता है, इन्द्रियोंपर पड़ता है; पर आप तो वही रहते हैं अर्थात् आपपर असर नहीं पड़ता। रुपये आये, नफा हुआ तो आपका मन प्रसन्न हो गया; और रुपये चले गये, घाटा लग गया तो आपका मन दुःखी हो गया। नफा-नुकसान होनेसे मनपर दो तरहका असर हुआ, पर आप तो वही रहे। नफा हुआ तो आप दूसरे थे और नुकसान हुआ तो आप दूसरे थे—ऐसा होता है क्या ? अगर आप एक नहीं रहते तो नफा और नुकसान— दोनोंका ज्ञान किसको होता ? आप तो सम ही रहते हैं, एक ही रहते हैं। आपपर असर पड़ता ही नहीं है। असर पड़ता है मन-बुद्धिपर।

तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुष भी बचपनसे जवान और बूढ़ा हो जाय तो उसको दिखना कम हो जायगा, सुनना कम हो जायगा, चलना-फिरना कम हो जायगा, पर उसके ज्ञानमें क्या फर्क पड़ा ? शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—ये सब तो बदलनेवाले ही हैं। इनमेंसे कोई बदल गया, किसीपर असर पड़ गया तो क्या हो गया ? आप उसके साथ मिलकर अपनेको (स्वरूपको) सुखी-दुःखी मान लेते हो—यह गलती होती है। आप इस बातपर दृढ़ रहो कि मैं तो वही हूँ। सुखके समयमें जो था, वही दुःखके समयमें हूँ और दुःखके समयमें जो था, वही सुखके समयमें हूँ। इस प्रकार आने-जानेवालेके साथ न मिलकर अपने-आपमें स्थित रहना ही 'स्वस्थ' होना है— **'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४।२४)। आने-जानेवालेके साथ मिलकर सुखी-दुःखी होना 'प्रकृतिस्थ' होना है—**'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते'** (गीता१३।२१)। प्रकृतिमें स्थित आप हो नहीं पर जान-बूझकर उसमें स्थित हो जाते हो। आप न सुखमें हो, न दुःखमें; न लाभमें हो, न हानिमें; न किसीके जन्ममें हो, न किसीके मरणमें; आप इन सबसे अलग हो। आप जान-बूझकर इनको खींच करके ले लेते हो और सुखी-दुःखी हो जाते हो; फिर कहते हो कि बोध नहीं होता ! आप इसी बातमें स्थित रहो कि मैं तो वही हूँ। नफा हुआ तो

मैं वही हूँ, नुकसान हुआ तो मैं वही हूँ। आप 'स्व'में (अपने-आपमें) स्थित हो जाओ, बस। 'स्व' सदा ही निर्विकार है। 'स्व' में कभी विकार होता ही नहीं। विकार अन्तःकरणमें होता है और उसके साथ मिलकर आप भी अपनेमें विकार मान लेते हो और सुखी-दुःखी होते हो।

आपके मनमें अच्छी आ जाय, मंदी आ जाय, शोक हो जाय, चिन्ता हो जाय, हर्ष हो जाय, राग हो जाय, द्वेष हो जाय—ये सब होनेपर भी आप अपनेमें स्थित रहो, उनसे मिलो मत। उनके साथ मिलते हो—यह प्रकृतिस्थ होना है। प्रकृतिस्थ होनेसे फिर पाप भी लगेगा, दुःख भी होगा, चौरासी लाख योनियाँ भी होंगी, नरक भी होंगे, जन्म-मरण भी होगा—**'कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। अतः जो बनते हैं, बिगड़ते हैं; आते हैं, जाते हैं, उनको देखकर भी आप अपनेमें स्थित रहो; क्योंकि आप उनको देखनेवाले (उनसे अलग) हो। सुखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो और दुःखदायी परिस्थितिको भी आप देखते हो। संयोगको भी आप देखते हो और वियोगको भी आप देखते हो। देखनेवाला दीखनेवाली वस्तुओंसे अलग होता है—यह नियम है। अतः देखनेवाले आपमें क्या फर्क पड़ा ? देखनेवाले आप तो वही रहे।

हम गङ्गाजीके किनारे खड़े हैं। बहुत-से सिलपट (लकड़ीके टुकड़े) बहते हुए आ गये और हमारे पाससे होकर निकले तो हम खिलखिलाकर हँस पड़े कि आज तो आनन्द हो गया ! दूसरे दिन हम वहीं खड़े रहे, पर एक भी सिलपट हमारे पाससे होकर नहीं निकला, सब उधरसे बहते हुए निकल गये तो हम जोर-जोरसे रोने लगे। कोई पूछे कि भाई, रोते क्यों हो ? तो हम बोले कि आज एक भी सिलपट हमारे पाससे नहीं निकला। आप विचार करें, सिलपट हमारे पाससे निकले अथवा दूरसे बह जाय, उससे हमारेपर क्या फर्क पड़ा ? हम सिलपटको छूते ही नहीं। सिलपट हमारे पास रहता ही नहीं, वह तो

बहता है और हम एक जगह खड़े हैं। परंतु वह पाससे होकर बह गया तो राजी हो गये और दूरसे होकर बह गया तो रोने लगे—यह मूर्खता ही तो हुई ! ऐसे ही आपके यहाँ बेटा हुआ तो आप राजी हो गये और बेटा मर गया तो रोने लग गये। किसी दूसरे आदमीके यहाँ भी लड़का हुआ और मर गया, पर तब आप रोते नहीं। उसके यहाँ धन आया और चला गया, पर आप नहीं रोते। आपके यहाँ धन आकर चला जाय तो आप रोते हो। आपके पास पहले था नहीं, बीचमें हो गया, फिर चला गया तो आप जैसे पहले थे, वैसे ही रहे, फिर रोना किस बातका ? आप अपनेमें स्थित रहोगे तो रोओगे नहीं। परंतु आने-जानेवाली वस्तुओंके साथ चिपकोगे तो रोओगे मुफ्तमें।

संसारका दुःख आपने मुफ्तमें पकड़कर लिया हुआ है। वास्तवमें दुःख है नहीं। भगवान्‌ने दुःख पैदा किया ही नहीं। आप ही दुःख पैदा कर लेते हो। आपको क्या शौक लगा है, पता नहीं ! आप बदलनेवालेके साथ मिलो मत। मिलोगे तो दुःखी होना पड़ेगा। मैं बदलनेवालेसे अलग हूँ—ऐसा देखते रहो। उनसे अलगावका साफ अनुभव होते ही सब दुःख, विकार मिट जायँगे।

श्रोता—हम तो उनसे मिले हुए ही हैं, अलग कैसे हों ?

स्वामीजी—मिले हुए आप हो ही नहीं, अगर मिले हुए होते तो आप अभीतक बच्चे ही रहते, बूढ़े होते ही नहीं। परन्तु आप कहते हो कि मैं जो बालकपनमें था, वही मैं आज हूँ, जब कि बालकपन आपके साथ नहीं रहा और आप बालकपनके साथ नहीं रहे। फिर आप मिले हुए कहाँ हो ? शरीर आदि बदलनेवाले हैं और आप न बदलनेवाले हैं। आपने भूलसे अपनेको उनसे मिला हुआ मान लिया। बस, इसको आप मत मानो। हम उनसे मिले हुए हैं—ऐसा दीखनेपर भी इसको आदर मत दो, प्रत्युत अपने अनुभवको आदर दो कि मैं उनसे अलग हूँ। कैसे अलग हूँ कि बचपनसे लेकर अबतक शरीर बदल गया, पर मैं वही हूँ। यह बिलकुल प्रत्यक्ष अनुभवकी

बात है। आप शरीर आदिसे अलग हैं तभी तो बचपन बीत गया और आप रह गये। ऐसे ही यह जवानी और वृद्धावस्था भी बीत जायगी, पर आप रहोगे। जैसे बचपनके समय आप उससे अलग थे, ऐसे ही आज जवानीमें और वृद्धावस्थामें भी आप अलग हो। अगर फिर भी इसका ठीक अनुभव न हो, तो व्याकुल होकर भगवान्‌से कहो कि 'महाराज ! हमारेको इसका अनुभव नहीं हो रहा है। इतनी बात पक्की जान लो कि हम हैं तो अलग ही, चाहे अनुभव हो या न हो। अगर अलग न होते तो मरनेपर शरीर यहाँ नहीं रहता, साथमें जाता अथवा शरीरके साथ आप भी यहाँ रहते। परन्तु न आप शरीरके साथ रहते हो और न आपके साथ शरीर जाता है, फिर दोनों एक कैसे हुए ? मकानमें मैं रहता हूँ तो मकान मैं कैसे हो गया ? मैं मकानमें आता हूँ और मकानसे चला जाता हूँ, तो मकान और मैं अलग-अलग हुए। ऐसे ही शरीर भी एक मकान है और आप उसमें रहनेवाले हो। आप उसमें रहते हो और निकल भी जाते हो। उसके साथ आप एक नहीं हो।

मैं शरीरसे अलग हूँ—ऐसा अनुभव न हो तो भी इसको जबर्दस्ती मान लो। जैसे बीमारीसे छूटनेके लिये आप कड़वी-से-कड़वी दवा, चिरायते आदिका काढ़ा भी आँखें मीचकर पी लेते हो, ऐसे ही स्वस्थ होनेके लिये आप 'मैं अलग हूँ'—ऐसा मान लो। फिर भी ठीक अलग न दीखे तो व्याकुल हो जाओ कि अलग अनुभव जल्दी कैसे हो ! व्याकुलता जोरदार हो जायगी तो चट अनुभव हो जायगा। परन्तु भोगोंमें रस लेते रहोगे, सुख लेते रहोगे तो चाहे कितना ही पढ़ जाओ, पण्डित बन जाओ, चारों वेद पढ़ जाओ, पर शरीरसे अलगावका अनुभव कभी नहीं होगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

═══ ★ ═══

१३. सुख-लोलुपताको मिटानेका उपाय

अगर आप संयोगजन्य (सांसारिक) सुखकी आसक्ति मिटा दें तो अभी परमात्मतत्त्वका अनुभव हो जायगा। संयोगजन्य सुखमें जो आकर्षण है—यही खास बीमारी है। विचार करनेसे यह बात ठीक समझमें आती है कि यह संयोगजन्य सुखकी लालसा ही परमात्मप्राप्तिमें खास बाधा है। संयोगजन्य अर्थात् पदार्थों, व्यक्तियों, परिस्थितियोंके सम्बन्धसे पैदा होनेवाला सुख नित्य-निरन्तर कैसे रह सकता है ? कारण कि जो चीज पैदा होती है, वह नष्ट भी होती है। अगर संयोगसे मिलनेवाला सुख असह्य हो जाय, इस कृत्रिम सुखका त्याग कर दिया जाय, तो 'सहज सुख' है, वह प्रकट हो जायगा; क्योंकि यह स्वयं सहज सुख-स्वरूप है—

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(मानस ७। ११७। १)

जबतक संयोगजन्य सुखका त्याग नहीं करोगे। तबतक 'हमारा सम्बन्ध संसारसे नहीं है, हमारा सम्बन्ध परमात्मासे है'— यह बात सुननेपर भी काममें नहीं आयेगी। ऐसे ही 'संसार नाशवान् है, क्षणभङ्गुर है'—ऐसी बातें भले ही सुन लो, याद कर लो, पर अनुभव नहीं होगा। संसार असत्य है—ऐसा कहनेसे, सीख लेनेसे, याद करनेसे संसार छूटता नहीं। तात्पर्य है कि जबतक सांसारिक संयोगजन्य सुखकी आसक्ति रहेगी तबतक संसारकी असत्यताका अनुभव नहीं होगा। कारण कि आप संयोगजन्य सुखको सत्य मानकर

ही उसको लेनेकी इच्छा करते हो, फिर संसारकी असत्यताका अनुभव कैसे कर सकते हो ?

इस बातका प्रत्यक्ष पता है कि संयोगजन्य सुख लेनेसे दुःख भोगना ही पड़ता है। ऐसा कोई प्राणी हो ही नहीं सकता, जो संयोगजन्य सुख तो भोगता रहे, पर उसको दुःख न भोगना पड़े। वह दुःखसे बच जाय—यह असम्भव है। फिर भी मनुष्य संयोगजन्य सुख क्यों नहीं छोड़ता ? वर्तमानमें संयोगसे जो सुख होता है, उसका जितना आकर्षण है, प्रियता है, विश्वास है, भरोसा है, उतना उसके परिणामपर विचार नहीं है। सुखभोगके परिणाममें क्या होगा—इसका वह विचार ही नहीं करता। उसके विचारमें आता भी है तो वह आँख मीच लेता है, उसको जानना नहीं चाहता। इसलिये भगवान्‌ने राजस सुखका वर्णन करते हुए बताया कि संयोगजन्य सुख आरम्भमें अमृतकी तरह और परिणाममें विषकी तरह होता है—'**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्। परिणामे विषमिव....**' (गीता १८। ३८)। इसके परिणामका विचार मनुष्य ही कर सकता है, पशु-पक्षी आदिमें इसका विचार करनेकी शक्ति ही नहीं है। देवतालोग तो सुख भोगनेके उद्देश्यसे ही स्वर्गमें रहते हैं, वे इसके परिणामको क्या जानेंगे ? मनुष्य-शरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है; अतः इसमें परिणामका विचार करनेकी योग्यता है। इसलिये मनुष्यको हरदम संयोगजन्य सुखके परिणामकी तरफ दृष्टि रखनी चाहिये। हरदम सोचना चाहिये कि इसका परिणाम क्या होगा ? सांसारिक सुखका परिमाण दुःख होगा ही। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते** (गीता ५। २२) अर्थात् जितने भी सम्बन्धजन्य सुख हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके कारण हैं। संसारमें जितने भी दुःख होते हैं—नरक होते हैं, कैद होती है, अपयश होता है, अपमान होता है, रोग होते हैं, शोक होता है, चिन्ता होती है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है, बेचैनी होती है—ये सब-के-

सब संयोगजन्य सुखकी लोलुपताका ही नतीजा है।

सुख इतना बाधक नहीं है, जितनी सुखकी लोलुपता बाधक है। सुख मिल जाय, सुख ले लूँ—यह इच्छा जितनी बाधक है, उतना सुख बाधक नहीं है। कारण कि सुख बेचारा आता है और चला जाता है, पर उसकी लोलुपता ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। सुख नहीं है तो भी लोलुपता रहती है। सुख भोगते समय भी लोलुपता रहती है और सुख चला जाय तो भी लोलुपता रहती है। सुखमें जो खिंचाव रहता है, प्रियता रहती है, यही वास्तवमें बीमारी है। इसको मिटानेका सरल और श्रेष्ठ उपाय यह है कि दूसरोंको सुख कैसे हो—इसकी लगन लग जाय। आप कृपा करके आज ही इस बातको धारण कर लें कि दूसरोंको सुख कैसे पहुँचे, दूसरोंका भला कैसे हो, दूसरोंका हित कैसे हो, दूसरोंको आराम कैसे मिले। हरेक काममें यह विचार करें कि दूसरोंको सुख कैसे हो। अगर भीतरसे यह लगन लग जायगी कि दूसरोंको सुख कैसे हो तो अपने सुखकी इच्छा छूट जायगी।

अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके लिये दूसरोंको सुख पहुँचाना है, गायोंको सुख पहुँचाना है, गरीबोंको सुख पहुँचाना है, सबको सुख पहुँचाना है। अपनी सुख-लोलुपताको मिटानेके उद्देश्यसे अगर सेवा की जाय तो मेरा विश्वास है कि जरूर लाभ होगा, करके देख लो। आजकल सेवा करनेवालोंमें भी सच्ची लगनसे सेवा करनेवाले मनुष्य बहुत कम देखनेमें आते हैं। वे सेवा तो करते हैं, पर उसमें दिखावटीपन रहता है। भीतरसे यह लगन नहीं होती कि दूसरेको सुख कैसे पहुँचे, दूसरेका हित कैसे हो। गीता कहती है कि जो प्राणिमात्रके हितमें रत रहते हैं, वे भगवान्‌को प्राप्त होते हैं—'**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः**' (१२।४)।

अब दूसरेकी सेवा किस रीतिसे करें, यह बताता हूँ। दूसरेकी सेवा करते समय अपने मनकी प्रधानता बिलकुल न रखें, अपना आग्रह बिलकुल न रखें। केवल दूसरेके मनकी तरफ देखें कि वे कैसे

राजी हों। किस तरहसे उनको सुख पहुँचे। हमें तो कई वर्षोंके बाद यह बात पकड़में आयी कि 'मेरे मनकी बात पूरी हो'—यही कामना है। इसलिये अपनी मनमानी छोड़कर दूसरेकी मनमानी करें। जो न्याययुक्त हो, शास्त्र-सम्मत हो, अपनी सामर्थ्यके अनुरूप हो—ऐसी दूसरेकी मनकी बात पूरी करें, तो आपमें अपनी कामनाको मिटानेकी सामर्थ्य आ जायगी।

जहाँ रहो, जिस क्षेत्रमें रहो केवल यह लगन रखो कि दूसरेको सुख कैसे मिले, दूसरेका हित कैसे हो। इस बातका ख्याल रखो कि किसीको भी मेरे द्वारा कष्ट न पहुँचे, सुख पहुँचे। जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—**'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'** (मानस ७। १३० ख); कामीको जैसे स्त्री प्यारी लगती है और लोभीको जैसे पैसा प्यारा लगता है, ऐसे ही आपको दूसरोंका हित प्यारा लगने लगे। फिर देखो तमाशा, चट काम होगा। वर्षोंतक विचार और चिन्तन करनेपर जो बात मिली है, वह बात बतायी है आपको!

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१४. इच्छाके त्याग और कर्तव्य-पालनसे लाभ

श्रोता—आपको आध्यात्मिक लाभ कैसे हुआ ?

स्वामीजी—मुझे तो सत्संगसे लाभ हुआ है। मैं साधनको इतना महत्त्व नहीं देता, जितना सत्संगको देता हूँ। दूसरोंके लिये भी मैं समझता हूँ कि अगर वे मन लगाकर, गहरे उतरकर सत्संगकी बातें समझें तो उनको लाभ बहुत हो सकता है। एक विशेष बात कह देता हूँ कि अगर आप सत्संगको महत्त्व दें और उसको गहरे उतरकर समझें तो मेरेको जितने वर्ष लगे, उतने वर्ष आपको नहीं लगेंगे ! बहुत जल्दी आपकी उन्नति होगी—ऐसा मेरेको स्पष्ट दीखता है, मेरेको सन्देह नहीं है इस बातपर। इस विषयमें मैं आपको अयोग्य, अनधिकारी नहीं मानता हूँ। आपमें जो कमी है, उस कमीको दूर करनेकी सामर्थ्य आपमें पूरी है। मेरी धारणासे आपमें केवल इस विषयकी उत्कण्ठाकी कमी है। वह उत्कण्ठा जाग्रत् हो जाय तो आप पापी-से-पापी हों, मूर्ख-से-मूर्ख हों और आपके पास थोड़ा-से-थोड़ा समय हो तो भी आपका उद्धार हो सकता है। उत्कण्ठा जाग्रत् होगी संसारकी लगनका त्याग करनेसे।

कबीर मनुआँ एक है, भावे जहाँ लगाय।
भावे हरि की भगति कर, भावे विषय कमाय ॥

सांसारिक संग्रह और भोगोंमें जो लगन लगी है, उसको मिटा दो तो परमात्मप्राप्तिकी सच्ची लगन लग जायगी। इतना रुपया हो गया; इतना और हो जाय; इतना सुख भोग लें, ऐश-आराम कर लें; मान मिल जाय, बड़ाई मिल जाय, नीरोगता मिल जाय, समाजमें मेरा ऊँचा स्थान हो जाय, हम ऐसे बन जायँ—ये जितनी इच्छाएँ हैं, इनका त्याग कर दो तो आपको सच्ची लगन लग जायगी। जितनी लगन लगनी चाहिये, उतनी नहीं लग रही है तो इसका कारण यह है कि जितना त्याग होना चाहिये, उतना नहीं हो रहा है। त्याग क्या है ? गीताने इच्छाके त्यागको ही 'त्याग' कहा है। इच्छा क्या है ? ऐसा तो होना चाहिये और ऐसा नहीं होना चाहिये—यह इच्छा है।

श्रोता—इच्छा किये बिना शरीरका, कुटुम्बका पालन-पोषण कैसे होगा ?

स्वामीजी—पालन-पोषण इच्छासे नहीं होता है। इस बातको समझनेकी कृपा करो। कृपानाथ ! पैसोंका पैदा होना, पदार्थोंका प्राप्त होना इच्छापर बिलकुल निर्भर नहीं है। पदार्थोंकी प्राप्ति होती है पूर्वके कर्मोंसे और अभीके कर्मों-(उद्योगों-)से। कारण कि कर्मोंका और पदार्थोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इच्छाका और पदार्थोंका बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं है। आपमेंसे कोई भी कह सकता है कि मैंने धनकी इच्छा नहीं की, इसलिये मैं निर्धन रहा। अगर इच्छा कर लेता तो धनवान् हो जाता। वास्तवमें यह बात है ही नहीं। इस बातको आप समझनेकी कृपा करो। इच्छाके साथ पदार्थोंका बिलकुल सम्बन्ध नहीं है। पदार्थोंका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है; क्योंकि क्रिया और पदार्थ—ये दोनों ही प्राकृत चीजें हैं, दोनों एक ही तत्त्व हैं। अतः पदार्थोंका सम्बन्ध पूर्वके अथवा वर्तमानके कर्मोंके साथ है। पूर्वके कर्मोंको प्रारब्ध कहते हैं और वर्तमानके कर्मोंको पुरुषार्थ कहते हैं।

इच्छाके साथ पदार्थोंका सम्बन्ध बिलकुल नहीं है। अगर मैं इच्छा करूँ कि मेरा पालन-पोषण हो जाय, तो क्या इस प्रकार इच्छा

करनेसे मेरा पालन-पोषण हो जायगा। आपलोगोंसे कहें कि घण्टाभर आप सब मिल करके यह इच्छा करो कि इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जाय और इसको एक कौड़ी भी मत दो, तो क्या इसके कुटुम्बका पालन-पोषण हो जायगा ? कदापि नहीं। इच्छाके साथ केवल परमात्माका सम्बन्ध है। अगर परमात्माकी प्राप्तिकी तीव्र इच्छा, उत्कट अभिलाषा हो जाय तो उसकी प्राप्ति हो जायगी ! इसका कारण क्या है ? पदार्थोंका हमारेसे अलगाव है। पदार्थ हमारेसे दूर हैं; देशसे दूर हैं, कालसे दूर हैं, व्यक्तिसे दूर हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति कर्मोंसे होगी। परन्तु परमात्मा देशसे दूर नहीं हैं, कालसे दूर नहीं हैं, वस्तुसे दूर नहीं हैं, व्यक्तिसे दूर नहीं हैं। जहाँ हम 'मैं' कहते हैं, वहाँ भी परमात्मा परिपूर्ण हैं; इसलिये उनकी प्राप्ति इच्छामात्रसे हो जायगी। परमात्माकी तरह रुपये सब जगह मौजूद नहीं हैं। उनको तो पैदा करना पड़ता है। परंतु परमात्माको पैदा नहीं करना पड़ता, उनको कहींसे लाना नहीं पड़ता।

आप कह सकते हो कि बड़ा परिवार है, रोटी-कपड़ेकी भी तंगी है, काम चलता नहीं फिर इच्छा किये बिना कैसे रहें ? तो इच्छा करनेसे वस्तुएँ थोड़े ही मिलेंगी। वस्तुएँ तो काम करनेसे मिलेंगी। इसलिये वस्तुओंकी इच्छा न करके काम करनेकी इच्छा करो। निकम्मे, निरर्थक मत रहो। न्याययुक्त काम करो। झूठ, कपट, बेईमानी, ठगी, धोखेबाजी मत करो। अन्तःकरणमें रुपयोंको महत्त्व मत दो। यह जो लोभ है, संग्रह करनेकी इच्छा है, इसका त्याग कर दो, तो आपका नया प्रारब्ध बन जायगा अर्थात् जो आपके भाग्यमें लिखा नहीं है, वह आपके पास आ जायगा ! परन्तु आपके लोभका त्याग हो जाना चाहिये और इतना दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि चाहे मर जायँ पर पाप नहीं करेंगे, अन्याय नहीं करेंगे, झूठ-कपट-जालसाजी नहीं करेंगे। अगर मर भी जायँ तो क्या फर्क पड़ेगा ? मरना तो एक बार है ही; फिर पापकी पोटली साथमें लेकर क्यों मरो ?

पापकी पोटली साथमें लिये बिना मर जाओ तो हर्ज क्या है ? अगर पाप किये बिना पैसा न मिलता हो तो भूखे भले ही मर जाओगे, पर नरकोंमें नहीं जाओगे। अगर पाप करके जीओगे तो नरकोंमें जाओगे ही। नरकोंसे बच नहीं सकोगे, ब्रह्माजी भी बचा नहीं सकेंगे। अतः इच्छा कर्तव्यकी करो, निकम्मे मत रहो। इस विषयमें मैं चार बातें कहा करता हूँ—

(१) अपना सब समय अच्छे-से-अच्छे, ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाओ। निकम्मे मत रहो, निरर्थक समय बरबाद मत करो। ताश-चौपड़, खेल-तमाशा, बीड़ी-सिगरेट पीना, सिनेमा-नाटक देखना—ये सब फालतू काम हैं, तमोगुणी काम हैं, जिनसे अधोगतिमें (नीच योनियोंमें और नरकोंमें) जाना पड़ेगा— '**अधो गच्छन्ति तामसाः**' (गीता १४। १८) ऐसे व्यर्थ कामोंमें समय मत लगाओ। जिससे शरीरका निर्वाह हो, स्वास्थ्य ठीक रहे, दुनियाका हित हो, परमात्माकी प्राप्ति हो, ऐसे काममें लगे रहो।

(२) जिस किसी कामको करो, उसको सुचारुरूपसे करो, जिससे आपके मनमें सन्तोष हो और दूसरे भी कहें कि बहुत अच्छा काम करता है। लिखना हो, पढ़ना हो, मुनीमी करना हो, बिक्री करना हो, खरीदारी करना हो आदि-आदि संसारका जो कुछ काम करना हो, उसको बड़े सुचारुरूपसे, साङ्गोपाङ्गरूपसे करो। माता-बहनें रसोई बनायें तो अच्छी तरहसे बनायें। सामग्री भले ही कैसी हो, पर चीज बढ़िया बनायें। भोजन ठीक तरहसे परोसें। सबको कैसे संतोष हो, सबको किस तरहसे सुख पहुँचे—ऐसा भाव रखकर सब काम करें।

(३) इस बातका ध्यान रखो कि आपके पास दूसरेका हक न आ जाय। आपका हक दूसरेके पास भले ही चला जाय, पर दूसरेका हक आपके पास बिलकुल न आये।

(४) अपने व्यक्तिगत जीवनके लिये कम-से-कम खर्चा करो। शरीर-निर्वाहके लिये, खाने-पीनेके लिये, ओढ़ने-पहननेके लिये कम

खर्चा करो, साधारणरीतिसे काम चलाओ। ऐश-आराम, स्वाद-शौकीनी मत करो। अगर ऐसे काम करोगे तो आपको घाटा नहीं रहेगा, करके देख लो।

आजकल लोग कहते हैं कि क्या करें, निठल्ले बैठे हैं, काम नहीं है। यह बिलकुल फालतू बात है। निठल्ले क्यों बैठे हो ? नाम-जप करो, कीर्तन करो, गीता-रामायण आदिका पाठ करो। घरका काम करो—घरमें झाड़ू लगाओ, बरतन धोओ, जूते साफ करो, नालियाँ साफ करो, शौचालय साफ करो। इस तरह कुछ-न-कुछ करते रहो। करना चाहो तो बहुत काम निकल सकता है। काम करनेसे अन्तःकरण निर्मल होगा। ताश-चौपड़ खेलने आदि फालतू कामोंके लिये समय ही नहीं मिलना चाहिये। छुट्टीका दिन हो तो यों ही निकम्मे फिरेंगे, फालतू घूमने चले जायँगे, सिनेमा देखेंगे, खेल करेंगे, पानी उछालेंगे, धक्का देंगे—इस तरह फालतू समय बरबाद करेंगे। यह मानव-शरीरका समय ऐसे बरबाद करनेके लिये नहीं है। तेलीके घरमें तेल होता है तो वह लोटा भरके पैर धोनेके लिये थोड़े ही है !

भगवान्‌ने सबसे श्रेष्ठ मानव-शरीर दिया है। ऐसे मानव-शरीरका समय श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ कामोंमें लगानेके लिये है। उस समयको बरबाद करना बड़ा भारी नुकसान है। रुपया फिर पैदा किया जा सकता है। जवान बेटा मर जाय तो जो छोटे बालक हैं, वे जवान हो सकते हैं। गृहस्थोंके नये पैदा हो सकते हैं। परन्तु उम्र (समय) किसी भी रीतिसे पैदा नहीं होती, वह तो नष्ट-ही-नष्ट होती है। पैसोंका तो आप बहुत ख्याल रखते हो, एक-एक पैसा सोच-सोचकर समझ-समझकर खर्च करते हो; और हवाई जहाजको देखनेमें चार-पाँच मिनट खर्च कर देते हो ! क्या फायदा निकला ? बताओ ? स्वास्थ्य सुधरा कि समाज सुधरा ? रुपये मिले कि भगवान् मिले ? क्या मिला ? आपको समयरूपी जो असली धन मिला हुआ है, उसको बरबाद क्यों करते हो ? अगर आप सावधान रहो, समयको बरबाद

न करके उसे अच्छे-से-अच्छे, उत्तम-से-उत्तम काममें लगाओ तो लोकमें और परलोकमें—दोनों जगह आपकी उन्नति होगी, इसमें सन्देह नहीं है। आप किसी भी क्षेत्रमें जाओ, आपकी उन्नति होगी। नास्तिक-से-नास्तिक मनुष्य भी अगर सोच-समझकर समयका सदुपयोग करे, तो उसकी धारणाके अनुसार, क्रियाके अनुसार उसकी जरूर उन्नति होगी, उसको जरूर सफलता मिलेगी, फिर समयका सदुपयोग करनेसे आस्तिक मनुष्यको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाय, इसमें तो कहना ही क्या है?

दूसरेका हक मत आने दो। स्त्रीका जो हक है, वह स्त्रीको दे दो। उसका जितना अधिकार है, उसे छीनो मत। उसके प्रति अपना जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। बेटेका जितना हक है, वह उसको दे दो। बेटेके प्रति बापका जो कर्तव्य है, उसका पूरा पालन करो। माता-पिताने आपको पैदा किया है, आपका पालन-पोषण किया है, आपको शिक्षित बनाया है; अतः उनके प्रति अपने कर्तव्यका पूरा पालन करो। आपपर उनका जो अधिकार है, उसकी रक्षा करो। उनका हक उनको दे दो। कपूत मत कहलाओ। ऐसे ही पड़ोसी है, व्यापारी है, जिनसे व्यवहार, व्यापार आदि करते हैं, उनका हक मत आने दो। उनके साथ स्नेहका, ईमानदारीका व्यवहार करो। इस तरह हर जगह सावधान रहो। इतना करनेपर भी पूरा ऋण अदा नहीं होगा; परन्तु नया ऋण नहीं चढ़ेगा।

सावधानी रखनेपर ही आपको पता लगेगा कि हम कहाँ-कहाँ दूसरेका हक मार रहे हैं। अभी तो दूसरेके हकका पता ही नहीं लगता। अभी आपसे पूछा जाय तो आप कहेंगे कि हम तो किसीका हक लेते ही नहीं। हम तो ठीक करते हैं। हम पाप करते ही नहीं। मेरेको ऐसे व्यक्ति भी मिले हैं, जो कहते हैं कि 'भजन करनेकी क्या जरूरत है, हम पाप तो करते ही नहीं। भगवान्‌का भजन वह करे, जो पाप करता है।' उनको होश ही नहीं है, पता ही नहीं है कि पाप क्या

होता है, अन्याय क्या होता है। इसलिये हर समय सावधानी रखें कि अभी जो बातें सुनी हैं, इनका अब हम उम्रभर पालन करेंगे। अब कभी गफलत, भूल नहीं करेंगे।

अभी मैंने आपको बताया कि पैसोंका, पदार्थोंका सम्बन्ध इच्छा अथवा चिन्तनके साथ नहीं है, उनका सम्बन्ध कर्मोंके साथ है—इस बातको समझनेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। आप कहें कि ऐसे काम कैसे चलेगा ? हम गृहस्थी हैं, कई काम-धन्धे हैं, इसलिये चिन्तन करना ही पड़ता है, तो 'काम कैसे करें, सेवा कैसे करें'—इस तरहका चिन्तन (विचार) करना दोष नहीं है। मुझे रुपये मिल जायँ, वस्तुएँ मिल जायँ—इस तरहका चिन्तन करना दोष है।

श्रोता—चिन्ता भी हो जाती है महाराजजी !

स्वामीजी—चिन्ता हो जाती है तो चिन्ता छोड़ो और काम करो। चिन्ता करनेसे बुद्धि नष्ट होगी—**'बुद्धिः शोकेन नश्यति'**। शान्तिपूर्वक विचार करो तो बुद्धि विकसित होगी। चिन्ता करना और चीज है, विचार करना और चीज है। 'काम किस रीतिसे करें, किस रीतिसे कुटुम्बका पालन करें, किस तरहसे व्यापार करें; किस तरहसे सबके साथ व्यवहार करें'—ऐसा शान्त-चित्तसे विचार करो। विचार करनेसे बुद्धि विकसित होगी। परन्तु चिन्ता करोगे कि 'हाय, क्या करें ! इतने कुटुम्बका पालन कैसे करें। पैदा है नहीं, क्या करें !' तो बुद्धि और नष्ट हो जायगी, काम करनेमें भी बाधा लगेगी, फायदा कोई नहीं होगा। इसलिये चिन्ता न करके विचार करो, उद्योग करो, पुरुषार्थ करो, निकम्मे मत रहो। सत्संग करो, पुस्तकें पढ़ो और स्वयं विचार करो अथवा आपसमें विचार-विनिमय करो।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१५. सेवाकी महत्ता

एक परमात्मतत्त्व ही ऐसा है, जिसको जो चाहे, उसको वह मिल जाय। धन, सम्पत्ति, वैभव, मान, आदर, नीरोगता आदिको जो चाहे, उसको ये मिल जायँ—यह नियम नहीं है। ये धन, सम्पत्ति आदि सबको नहीं मिल सकते, मिलेंगे तो थोड़े-बहुत मिलेंगे, एक समान नहीं मिलेंगे। परन्तु परमात्मतत्त्व सबको मिलेगा, एक समान मिलेगा और जो चाहे, उसको मिलेगा; क्योंकि उसका सबके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव परमात्माका साक्षात् अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७) इसलिये उसका परमात्मापर पूरा हक लगता है। जैसे, माँपर सब बालकोंका हक लगता है, सब बालक अपनी माँकी गोदीमें जा सकते हैं। ऐसे ही परमात्मा सबके माता-पिता हैं—**'त्वमेव माता च पिता त्वमेव।'** वे सदासे ही सबके माता-पिता हैं और सदा ही रहेंगे, इसलिये उनकी प्राप्तिमें कोई भी मनुष्य अयोग्य नहीं है, अनधिकारी नहीं है, निर्बल नहीं है। अतः किसीको भी परमात्मतत्त्वसे हताश होनेकी किंचिन्मात्र भी गुंजाइश नहीं है। कितनी विलक्षण बात है!

मैंने जो पुस्तकोंमें पढ़ा है, सुना है, विचार किया है, उससे मेरे भीतर यह बात दृढ़तासे बैठी हुई है कि किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति, घटना, क्रिया आदिकी महिमा नहीं है, प्रत्युत उनके सदुपयोगकी महिमा है। हमारी कैसी ही बुद्धि हो, कैसी ही परिस्थिति

हो, कैसी ही अवस्था हो, कैसा ही संयोग हो, उसीका ठीक तरहसे सदुपयोग किया जाय तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। कारण कि मनुष्यजन्म मिला ही इसके लिये है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(मानस ७।४४।३)

बिना हेतु कृपा करनेवाले प्रभुने कृपा करके मनुष्य-शरीर दिया है; तो क्या भगवान्‌की कृपा निष्फल होगी? भगवान्‌की कृपा कभी निष्फल नहीं होती। हाँ, इतनी बात है कि भगवान्‌ने मनुष्यको स्वतन्त्रता दी है। इस स्वतन्त्रताका वह चाहे जो उपयोग कर सकता है, चाहे इसका सदुपयोग करके परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कर ले, अपना कल्याण कर ले और चाहे इसका दुरुपयोग करके चौरासी लाख योनियोंमें अथवा नरकोंमें चला जाय। वास्तवमें यह स्वतन्त्रता भगवान्‌ने मनुष्यको अपना कल्याण करनेके लिये दी है। अतः मनुष्य क्या करे? उसके भीतर इस बातकी लगन लग जाय कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो? रामायणमें आया है—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस ३।१०।४)

भगवान्‌का एक स्वभाव है, एक बान है कि जिसका एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई सहारा नहीं है, वह भगवान्‌को बहुत प्यारा लगता है। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनको पूरी गीता सुनाकर कहा—'**मामेकं शरणं व्रज**' (१८।६६), तेरेसे और कुछ न हो तो एक मेरी शरणमें आ जा।'**माम् एकम्**'का अर्थ यह नहीं है कि भगवान् पाँच-सात हैं और उनमेंसे एककी शरण आ जा, प्रत्युत यहाँ इसका अर्थ है—अनन्य शरण। अर्जुनने कहा था कि मैं धर्मका निर्णय नहीं कर सकता—'**धर्मसम्मूढचेताः**' (२।७), तो भगवान् कहते हैं कि तेरेको धर्मका निर्णय करनेकी जरूरत नहीं है, तू सम्पूर्ण धर्मोंका आश्रय छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा—'**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं**

शरणं व्रज' (१८ । ६६) । अतः 'हे नाथ ! मैं आपका हूँ और आप मेरे हो ।' संसारकी कोई वस्तु, कोई प्राणी मेरा नहीं है और मैं किसीका नहीं हूँ—इस प्रकार भगवान्‌के शरण हो जायँ ।

यहाँ एक बात समझनेकी है कि संसारके लोग (माता-पिता, स्त्री-पुत्र आदि) आपसे न्याययुक्त आशा रखते हैं और आप उसको पूरी कर सकते हो, तो उनकी वह आशा आप पूरी कर दो अर्थात् उनकी सेवा कर दो । केवल सेवा करनेके लिये ही मात्र संसारके साथ सम्बन्ध रखो । संसारसे लेनेके लिये सम्बन्ध मत रखो; क्योंकि संसारकी कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है और आप स्थायी हैं । अतः संसारकी कोई भी वस्तु आपके साथ रहनेवाली नहीं है । इसलिये जितने आपके सम्बन्धी या कुटुम्बी कहलाते हैं, वे चाहे शरीरके नाते हों, चाहे देशके नाते हों, चाहे और किसी नाते हों, उनकी सेवा कर दो । कारण कि आपके पास जो वस्तुएँ हैं, वे उनकी हैं, उनके हककी हैं । उनका हक उनको दे दो । उनसे लेनेकी इच्छा रखोगे तो आपपर उनका ऋण हो जायगा । ऋण होनेसे मुक्ति नहीं होगी, कल्याण नहीं होगा । उनकी सेवा करनेसे कल्याण होगा । अतः संसारके साथ सम्बन्ध केवल उसकी सेवाके लिये ही रखना है, अपने लिये नहीं । सेवाके लिये सम्बन्ध रखोगे तो सब राजी हो जायँगे । कुटुम्बी नाराज तभी होते हैं, जब उनसे हम कुछ लेना चाहते हैं । अगर उनपर अपना हक न मानकर केवल उनकी सेवा ही करना चाहेंगे, तो कोई नाराज नहीं होगा । अतः संसारमें रहनेका बढ़िया तरीका भी यही है और मुक्त होनेका तरीका भी यही है । दोनों हाथोंमें लड्डू हैं—**'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें'** अर्थात् संसार भी राजी हो जाय और परमात्मा भी प्रसन्न हो जायँ, जिससे आपका कल्याण हो जाय !

आपका उद्देश्य केवल परमात्माकी प्राप्ति करना है तो बस, परमात्माके शरण हो जाओ । संसारका आश्रय छोड़ दो । अपनी शक्तिके अनुसार संसारकी सेवा कर दो । सेवा करनेसे संसार राजी हो

जायगा और प्रभुके चरणोंकी शरण होनेसे प्रभु प्रसन्न हो जायँगे तथा हमारा कल्याण स्वतः ही हो जायगा। अपने कल्याणके लिये नया उद्योग नहीं करना पड़ेगा। कितनी सरल और सीधी बात है।

लेनेकी इच्छासे मनुष्यका संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है और देनेकी इच्छासे सम्बन्ध टूटता है—यह बड़ी मार्मिक बात है। लेनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध बाँधनेवाला होता है और देनेकी इच्छासे जोड़ा गया सम्बन्ध मुक्त करनेवाला होता है। इसलिये सेवा करनेके लिये ही सम्बन्ध जोड़ो, सेवा लेनेके लिये नहीं। जैसे सेवा-समितिवाले मेला-महोत्सवमें सबका प्रबन्ध करते हैं, सबकी सेवा करते हैं। कोई बीमार हो जाय तो उसे कैम्पमें ले जाते हैं और उसका इलाज करते हैं, मर जाय तो दाह-संस्कार कर देते हैं, पर रोता कोई नहीं। जहाँ 'सेवा करनेमात्रका सम्बन्ध है, वहाँ रोना नहीं होता। जहाँ कुछ-न-कुछ लेनेकी आशासे सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वहीं रोना होता है।' लेनेकी इच्छा ही गुणोंका संग है, जिससे जन्म-मरण होता है—

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ (गीता १३। २१)

सेवा करनेका भाव असंगता लानेवाला है। अपने धर्मका, कर्तव्यका पालन करोगे, दूसरोंकी सेवा करोगे तो वैराग्य पैदा होगा—'**धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना**' (मानस ३। १६। १)। जैसे स्वायम्भुव मनुने अपना कोई स्वार्थ न रखकर धर्मसहित प्रजाका पालन किया, उसका हित किया तो उनको वैराग्य हो गया—

होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथपन।
हृदयँ बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु ॥

(मानस १। १४२)

वैराग्य होनेपर वे स्त्रीसहित वनको चले गये। उन्होंने प्रजाके हितके लिये राज्य किया, इसीलिये उन्हें वैराग्य हुआ। अगर वे अपने लिये राज्य करते तो उन्हें वैराग्य नहीं होता। जहाँ लेनेकी इच्छा होती है, वहाँ राग पैदा होता है। राग अज्ञानका चिह्न है, अज्ञानकी खास

पहचान है—**'रागो लिंगमबोधस्य'**। जो रागी होता है, वह अज्ञानी होता है।

सेवा करनेसे सम्बन्ध उसका जुड़ता है, जो कुछ लेना चाहता है और लेना वही चाहता है, जो शरीर और पदार्थोंके साथ 'मैं' और 'मेरा'का सम्बन्ध रखता है। जिसको सेवक कहलानेकी भी इच्छा नहीं है, प्रत्युत केवल दूसरोंको सुख पहुँचे, आराम पहुँचे, उनका भला हो, उनका कल्याण हो—इसके लिये ही तनसे, मनसे, वचनसे, धनसे, विद्यासे, बुद्धिसे, योग्यतासे, पदसे, अधिकारसे सबको सुख-ही-सुख पहुँचाता है, मनमें सबका हित-ही-हित करनेका भाव रखता है, वह मुक्त हो जाता है। जैसे, पानीमें रहकर पानीको अपनी ओर लोगे तो डूब जाओगे; और हाथोंसे लातोंसे मारते रहोगे तो तर जाओगे। इसी तरह इस संसार-समुद्रमें जो लेना चाहता है, वह डूब जाता है जो देना-ही-देना चाहता है, वह कभी नहीं डूबता।

भगवान् और उनके भक्त (सन्त-महात्मा) बिना कारण सबकी सेवा करनेवाले हैं—

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस ७। ४७। ३)

इसलिये वे बँधते नहीं। वे बँधे क्यों; उनके तो दर्शनसे ही मुक्ति हो जाती है! कारण कि उनमें स्वार्थ है ही नहीं, किसीसे कुछ लेना है ही नहीं, प्रत्युपकारकी इच्छा है ही नहीं। इसलिये सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

श्रोता—भरत मुनिने दया करके हरिणके बच्चेका पालन किया, पर अगले जन्ममें वे हरिण बन गये, ऐसा क्यों?

स्वामीजी—पहले भरत मुनिका उद्देश्य तो सेवा करनेका ही था, पर बादमें उनका हरिणके बच्चेपर मोह हो गया। हरिणके बच्चेपर उनका इतना अधिक मोह हो गया कि कभी वह दिखायी नहीं देता तो वे उसके वियोगमें ऐसे व्याकुल हो जाते, जैसे कोई पुत्रके वियोगसे

व्याकुल होता है। वह ऐसे खेलता था, ऐसे गोदीमें आता था, ऐसे बोलता था, ऐसे शरीर खुजलाता था, ऐसे फुदकता था—इस तरह वे उसका चिन्तन करने लगते थे। इसी मोहके कारण उनको अगले जन्ममें हरिण बनना पड़ा, दयाके कारण नहीं। उनको मोह दयासे नहीं हुआ, प्रत्युत भूलसे हुआ। वास्तवमें मोह तो पहलेसे ही था, वही मोह दयाका रूप धारण करके आ गया। मोहके कारण ही बन्धन होता है। दया-परवश होकर सेवा करनेसे बन्धन नहीं होता।

अस्सी-नब्बे, सौ वर्षका कोई आदमी मर जाय तो उसके लिये दुःख नहीं होता; परंतु पचीस वर्षका कोई जवान आदमी मर जाय तो दुःख होता है। जरा सोचो कारण क्या है। बड़े-बूढ़े तो विशेष बुद्धिमान् और अनुभवी होते हैं, उनका अध्ययन बहुत होता है, इसलिये उनसे ज्यादा लाभ लिया जा सकता है; फिर भी उनके मरनेका दुःख इसलिये नहीं होता कि अब उनसे कुछ लेनेकी इच्छा नहीं रही। भीतर यह भाव रहता है कि अब उनसे मिलेगा कुछ नहीं, इसलिये वह मर जाय तो कोई हर्ज नहीं। मैंने खुद लोगोंके मुखसे यह सुना है कि बूढ़ेका मरना तो ब्याहकी तरह है। ऐसे ही कोई बीस वर्षका आदमी है और पाँच वर्षतक वह बीमार-ही-बीमार रहा; सब वैद्योंने, डाक्टरोंने जवाब दे दिया कि अब यह जीनेवाला नहीं है और पचीस वर्षकी उम्रमें वह मर गया, तो उसके मरनेका भी दुःख नहीं होता। कारण कि दुःख तभी होता है, जब उससे कुछ-न-कुछ मतलब रहता है, सेवाकी आशा रहती है। यह आशा ही बाँधनेवाली है। जो आशा नहीं रखता, वह बँधता नहीं, उसको कोई बाँध सकता ही नहीं।

कोई सम्बन्धी मर जाय तो उसके पीछे श्राद्ध करते हैं, दान, पुण्य करते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो उससे लिये था, वह कर्जा उतर जाय। उससे जितना सुख लिया है, उतनी ही उसकी याद आती है, उतना ही हमें उसके वियोगका दुःख होता है। छोटे बच्चेको गोदीमें खिला करके जो सुख लिया है, उसका भी नतीजा दुःख ही होगा।

सांसारिक सुखका नतीजा दुःख ही है। सांसारिक सुख दुःखोंकी जड़ है। उस सुखको लोगे तो बन्धन होगा ही। अगर वह सुख नहीं लोगे, प्रत्युत सुख दोगे तो किसीकी ताकत नहीं कि आपको बाँध दे। जहाँ कुछ-न-कुछ स्वार्थ है, मनमें सुख, आराम, मान, बड़ाई आदि लेनेकी इच्छा है, वहींपर बन्धन है। मेरेको व्याख्यान देते हुए वर्ष बीत गये, पर बन्धनकी जड़ कहाँ है—इसका पता जल्दी नहीं लगा। पीछे इसका पता लगा कि मनमें कुछ-न-कुछ लेनेकी इच्छा ही बन्धनकी जड़ है। ऐसी दुर्लभ बात है यह ! अगर संसारकी किसी चीजको देखकर राजी होते हैं तो यह भी सुखका भोग है, जो बाँधनेवाला है। अनुकूलताकी इच्छा करेंगे तो दुःख आयेगा ही। इसलिये हरदम सावधान रहो कि किसीसे सुख नहीं लेना है, आराम नहीं लेना है, मान नहीं लेना है, बड़ाई नहीं लेनी है। हमें किसीसे कुछ लेना है ही नहीं। जहाँ लेना हुआ कि फँसे ! केवल देना-ही-देना है। सेवा-ही-सेवा करनी है। सेवा करनेसे पुराना ऋण उतर जायगा और लेनेकी इच्छा न रखनेसे नया ऋण नहीं चढ़ेगा, तो हम मुक्त हो जायँगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१६. विकारोंसे कैसे छूटें ?

साधन करनेवालोंके मनमें एक बात गहरी बैठी हुई है कि हम सत्संगकी बातें सुनते तो हैं, पर वे काममें नहीं आतीं। इसपर आप खूब विचार करें। जिसको आप काममें आना मानते हैं, वह वास्तवमें आपकी भूल है। भूल यह है कि आप उस ज्ञानको असत्‌में लाना चाहते हैं, जब कि वास्तवमें आपको असत्‌से ऊँचा उठना है। सुननेमें तो आप असत्‌से ऊँचा उठते हैं, पर परीक्षा करते हैं असत्‌के साथ मिलकर। असत्- (शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि-) में तो विकार होते ही रहते हैं और आप उन विकारोंको अपने सत्-स्वरूपमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि बातें आचरणमें नहीं आतीं।

आप साक्षात् परमात्माके अंश हैं। आपमें कोई विकार नहीं है। परंतु आपने भूलसे असत्‌के साथ 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध मान लिया अर्थात् नाशवान् शरीरको तो 'मैं' मान लिया और नाशवान् पदार्थोंको 'मेरा' मान लिया। इस प्रकार असत्‌को 'मैं' और 'मेरा' माननेसे आपका असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़ गया। असत् कभी निर्विकार रह ही नहीं सकता। असत्‌के साथ सम्बन्ध जुड़नेसे आप असत्‌में होनेवाले विकारोंको अपनेमें मानते रहते हैं और कहते हैं कि सत्संगकी बातें काममें नहीं आतीं।

विकार तो आते हैं और चले जाते हैं, पर आप वैसे-के-वैसे ही रहते हैं। अतः आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें, माने हुए

मैं-मेरेपनमें स्थित न रहें। अपने स्वरूपमें स्थित रहनेसे आप सुख-दुःखमें सम अर्थात् निर्विकार हो जायँगे—'**समदुःखसुखः स्वस्थः**' (गीता १४। २४)। इस प्रकार सत्संगमें सुनी बात आपके काममें आ जायेगी।

जो स्वरूपमें स्थित न होकर प्रकृतिमें स्थित होता है, वही प्रकृतिजन्य गुणोंका, सुख-दुःखोंका भोक्ता बनता है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। (गीता १३। २१)
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (गीता १३। २०)

'मैं' और 'मेरा'—यही प्रकृति है, माया है—'**मैं अरु मोर तोर तैं माया**' (मानस ३। १५। १)। इस मायाको पकड़कर कहते हैं कि बात काममें नहीं आती! मायाको पकड़नेसे तो विकार पैदा होंगे। इसलिये आप सावधान रहें। विकारोंको अपनेमें मत मानें।

जो कुछ दीखता है, वह सब प्रकृतिका है। अतः अपना कुछ नहीं है। अपने तो केवल प्रभु हैं, जो सदा हमारे साथ हैं। हमारा स्वरूप सत् है। सत्का कभी अभाव नहीं होता, उसमें कभी कोई कमी नहीं आती और कमी आये बिना हमारेमें कोई चाहना नहीं होती। अतः अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। अपने लिये कुछ करना भी नहीं है। आपकी स्वाभाविक स्थिति सत्में है और असत्में स्वाभाविक क्रिया हो रही है। उन क्रियाओंके साथ हम मिल जाते हैं और उन क्रियाओंको अपनेमें मिला लेते हैं—यह गलती होती है। इसलिये हमारा यह विवेक साफ-साफ रहे कि हमारा कुछ नहीं है, हमारेको कुछ नहीं चाहिये और हमारेको कुछ नहीं करना है। पुराने अभ्याससे अगर असत्के साथ अपना सम्बन्ध दीख भी जाय तो थोड़ा ठहरकर विचार करें कि यह तो जाननेमें आनेवाला है और मैं इसको जाननेवाला हूँ। 'जाननेमें आनेवाले' से 'जाननेवाला' सर्वथा अलग होता है। हम खम्भेको देखते हैं तो खम्भा हमारेमें थोड़े ही आ जायगा! खम्भा तो जाननेमें आनेवाली चीज है। जाननेमें आनेवाली चीज जाननेवालेमें नहीं होती।

जिसको यह कहते हैं, वह 'मैं' नहीं हो सकता—यह नियम है। 'यह' तो 'यह' ही रहेगा। भगवान्‌ने शरीरको 'यह' कहा है—**'इदं शरीरम्'** (गीता १३। १)। अतः यह शरीर 'मैं' कैसे हो सकता है? शरीर 'मेरा' भी नहीं हो सकता; क्योंकि हम स्वयं भगवान्‌के अंश हैं। **'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७) और शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रकृतिके अंश हैं—**'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि'** (गीता १५। ७)। अतः शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मानना भूल है। जितने भी विकार आते हैं, वे सब मनमें, बुद्धिमें, इन्द्रियोंमें ही आते हैं। स्वयंमें विकार कभी आता ही नहीं। विकार आता है और चला जाता है—इसको आप जानते हो। आने-जानेवाला विकार आपमें कैसे आ सकता है? इस बातको पक्का कर लो कि मैं रहनेवाला हूँ और ये विकार आने-जानेवाले हैं। विकारोंको आने-जानेवाले और अनित्य समझकर उनको सह लो अर्थात् निर्विकार रहो—**'आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व'** (गीता २। १४)।

यह नियम है कि संसारके साथ मिलनेसे संसारका ज्ञान नहीं होता और परमात्मासे अलग रहनेपर परमात्माका ज्ञान नहीं होता। संसारसे अलग होनेपर ही संसारका ज्ञान होगा और परमात्मासे अभिन्न होनेपर ही परमात्माका ज्ञान होगा। इसलिये यदि असत्‌के साथ मिल जाओगे तो न सत्‌का ज्ञान होगा और न असत्‌का ज्ञान होगा। कारण यह है कि वास्तवमें संसारसे हमारी भिन्नता है और परमात्मासे हमारी अभिन्नता है।

श्रोता—अन्तःकरण शुद्ध होनेसे तो ज्ञान हो जायगा?

स्वामीजी—तो अन्तःकरण शुद्ध कर लो, मना कौन करता है? परन्तु भाई, शुद्ध करनेसे अन्तःकरण इतना जल्दी शुद्ध नहीं होगा, जितना जल्दी सम्बन्ध-विच्छेद करनेसे शुद्ध होगा। कारण कि असत् (अन्तःकरण) की सत्ता मान करके आप उसको शुद्ध करना चाहोगे तो उसमें बहुत देरी लगेगी और वह होगा भी नहीं। यदि असत्‌की

सत्ता न मानकर उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लो तो बहुत जल्दी काम बनेगा।

भगवान्ने कहा है—'**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते**' (गीता १३। १) अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीनों ही शरीर 'इदम्' होनेसे अपनेसे अलग हैं और 'क्षेत्र' नामसे कहे जाते हैं। जो इनको जानता है, वह 'क्षेत्रज्ञ' नामसे कहा जाता है—'**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**' (गीता १३। १)। उस क्षेत्रज्ञकी दृष्टि क्षेत्रकी तरफ न होकर भगवान्‌की तरफ हो जाय—'**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि**' (१३। ३)। भगवान्‌की तरफ दृष्टि होनेसे जितनी शुद्धि होगी, उतनी अन्तःकरणको शुद्ध करनेकी चेष्टासे शुद्धि नहीं होगी। आप परमात्माके साथ जितने अभिन्न रहोगे, उतनी ही आपमें स्वाभाविक शुद्धि आयेगी। मनमें, इन्द्रियोंमें, शरीरमें, व्यवहारमें, सबमें स्वतः ही शुद्धि आयेगी। कारण कि आपने सत्‌के साथ अभिन्नता कर ली, मूल चीज पकड़ ली। अब इसमें कठिनता क्या है? बहुत सीधी-सरल बात है।

आप आने-जानेवाले असत् पदार्थोंके साथ सम्बन्ध न जोड़कर अपने सत् स्वरूपमें स्थित रहो। जब आप असत् पदार्थोंसे सुख लेने लग जाते हो, तब असत्‌का संग हो जाता है। असत्‌का संग करनेके बाद आप अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये जोर लगाते हैं और समझते हैं कि हम ठीक कर रहे हैं—यही उलझन है, यही असमर्थता है। जोर लगानेपर भी जब काम नहीं बनता, तब हताश हो जाते हैं कि भाई, हमारेसे तो यह काम नहीं बनता। क्यों नहीं बनता कि आपने असत्‌को पकड़ लिया। असत्‌को न पकड़ें तो अपना स्वरूप बना-बनाया, ज्यों-का-त्यों ही है।

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिमें स्थित हैं—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। इनमें आप उस सत्‌को लाना चाहते हैं और जब वह आता नहीं, तब कहते हैं कि सत्संगकी

बात हमारे व्यवहारमें नहीं आती, हमारे आचरणमें नहीं आती ! असत् (अन्तःकरण) को अपना मानकर उसे शुद्ध करना चाहोगे तो कैसे शुद्ध होगा ? उसको अपना मानना ही अशुद्धि है। ममता ही मल है—**'ममता मल जरि जाइ'** (मानस ७। ११७क)। मलको लगाकर शुद्ध करना चाहते हो तो कैसे शुद्ध होगा ?

ये बातें सुनकर आपमें हिम्मत आनी चाहिये कि अब हम यह भूल नहीं करेंगे; क्योंकि अब हमने इसको ठीक समझ लिया। असत्को 'मैं' और 'मेरा' मान लिया—मूलमें यहाँसे भूल हुई। यही मूल भूल है। इस भूलको मिटाकर अपने निर्विकार स्वरूपमें स्थित हो जाओ। जबतक भूल न मिटे, तबतक चैन नहीं आना चाहिये। छोटा बालक हर समय अपनी माँकी गोदीमें रहना चाहता है। गोदीसे नीचे उतरते ही वह रोने लग जाता है। आप भी हर समय सत् (भगवान्) की गोदीमें रहो। असत्में जाते ही रोने लग जाओ कि अरे ! कहाँ आ पड़े ! हम तो गोदीमें ही रहेंगे। फिर असत्का सम्बन्ध सुगमतासे छूट जायगा।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१७. परमात्मप्राप्तिमें भोग और संग्रहकी इच्छा ही महान् बाधक

भोग और संग्रह—इन दो चीजोंमें जबतक मनुष्यकी आसक्ति रहती है, तबतक 'मुझे परमात्माकी प्राप्ति करनी है'—ऐसा निश्चय भी नहीं होता, फिर परमात्माको प्राप्त करना तो दूर रहा—

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

(गीता २ । ४४)

जबतक भोग और संग्रहमें आसक्ति है अर्थात् सांसारिक पदार्थोंसे सुख लेते रहे और रुपयोंका संग्रह बना रहे—यह भावना भीतर बनी हुई है तबतक यत्न करते हुए भी परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते—'**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः**' (गीता १५ । ११) । कारण कि हृदयमें परमात्माकी जगह भोग और रुपये आकर बैठ गये ।

संसारका सुख भोगना है और सुख-भोगके लिये संग्रहकी आवश्यकता है—यह भोग और संग्रहकी रुचि बहुत घातक है। धनका उपयोग तो खर्च करनेमें है, चाहे अपने लिये खर्च करें, चाहे दूसरोंके लिये। परन्तु धनका संग्रह किसी कामका नहीं है। पदार्थों और रुपयोंके संग्रहकी बात तो दूर रही, 'बहुत पढ़ाई कर लूँ, बहुत शास्त्र पढ़ लूँ'—यह (अनेक विद्याओंके संग्रहकी) भावना भी जबतक रहेगी, तबतक परमात्मतत्त्वको नहीं जान सकते, जाननेके

लिये निश्चय भी नहीं कर सकते। जो अपना कल्याण चाहता है, उसकी बुद्धि एक ही होती है— **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका'** (गीता २।४१)। मुझे केवल परमात्मतत्त्वको ही प्राप्त करना है—यह निश्चय होना ही बुद्धिका एक होना है। परन्तु जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनकी बुद्धियाँ अनन्त होती हैं और एक-एक बुद्धिकी शाखाएँ भी अनन्त होती हैं—**'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'** (गीता २।४१)। जैसे, पुत्र मिले—यह एक बुद्धि हुई और पुत्र कैसे मिले, किसी दवाईका सेवन करें या किसी मन्त्रका अनुष्ठान करें अथवा किसी संतका आशीर्वाद लें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुईं। इसी तरह धन मिल जाय—यह एक बुद्धि हुई और धन कैसे मिले, व्यापार करें या नौकरी करें, चोरी करें या डाका डालें, ठगाई करें या किसीको धोखा दें आदि-आदि उस बुद्धिकी कई शाखाएँ हुईं। ऐसे ही आदरकी इच्छा होगी तो आदर कैसे हो सकता है, व्याख्यान देनेसे होगा या सांसारिक सेवा करनेसे होगा आदि तरह-तरहकी शाखाएँ पैदा होंगी। यह आपको थोड़ा-सा नमूना बताया है। इस तरह भोग और संग्रहमें आसक्त मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकते। कभी सत्संग करनेसे उनके मनमें परमात्मप्राप्तिकी इच्छा हो भी जाय, तो भी वे उसपर टिक नहीं सकेंगे।

गीतामें भगवान्‌ने परमात्मप्राप्तिके एक निश्चयकी बड़ी विलक्षण महिमा गायी है। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'** (गीता ९।३०)—जो साङ्गोपाङ्ग दुराचारी है, जिसके दुराचरणमें कोई कमी नहीं है, झूठ, कपट, बेईमानी, अभक्ष्य-भक्षण, वेश्या-गमन, जुआ, चोरी, व्यभिचार आदि जितने पाप-दुराचर कहे जाते हैं, उन सबको करनेवाला है, ऐसा मनुष्य भी यदि केवल भगवान्‌का ही भजन करनेका एक निश्चय कर ले, तो भगवान् कहते हैं कि उसको साधु ही मानना चाहिये—**'साधुरेव स मन्तव्यः'**। उसको साधु ही माननेकी भगवान् आज्ञा देते हैं! कारण क्या है कि उसने परमात्मप्राप्तिका एक

निश्चय कर लिया है—'**सम्यग्व्यवसितो हि सः**'। उसका एक लक्ष्य बन गया है कि अब चाहे कुछ भी हो जाय, एक भगवान्‌की तरफ ही चलना है।

यहाँ एक शंका पैदा होती है कि जो भोग और संग्रहमें आसक्त हैं, उनका तो परमात्मप्राप्तिका एक निश्चय नहीं हो सकता; और पापी-से-पापी भी ऐसा निश्चय कर सकता है—इन दोनों बातोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। वास्तवमें विरोध नहीं है; क्योंकि पापीके लिये भगवान्‌ने '**अपि चेत्**' पद दिये हैं। तात्पर्य है कि यद्यपि पापी मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते—'**पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥**(मानस ५। ४४। २), '**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः**' (गीता ७। १५), तथापि अगर वे भगवान्‌के भजनमें लगना चाहें तो लग सकते हैं। भगवान्‌की तरफसे किसीको कोई मना नहीं है। इसलिये अगर पापी मनुष्य भी भगवान्‌के भजनमें लगनेका पक्का निश्चय कर ले तो उसको साधु मान लेना चाहिये। कारण कि वास्तवमें भगवान्‌का अंश होनेसे जीव शुद्ध, निर्दोष ही है। संसारकी आसक्तिके कारण उसमें दोष आ जाते हैं। अगर वह संसारकी आसक्तिको मिटा दे तो उसका शुद्ध स्वरूप रह जायगा। आजकल पारमार्थिक बातें कहने-सुननेपर भी भगवान्‌की तरफ चलनेका निश्चय नहीं होता—इसका कारण यह है कि हृदयमें रुपयोंका महत्त्व बैठा हुआ है। वास्तवमें रुपये उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। भोग उतना नहीं अटकाते, जितना भोगोंका महत्त्व अटकाता है। जबतक हृदयमें पदार्थोंका, मान-बड़ाईका, आदर-सत्कारका, नीरोगताका, शरीरके आरामका महत्त्व बैठा हुआ है, तबतक मनुष्य परमात्मप्राप्तिका निश्चय नहीं कर सकता। चाहे वह कितनी ही बातें बना ले, कितना ही बड़ा पण्डित बन जाय, बाहरसे कैसा ही विरक्त और त्यागी बन जाय, पर मनमें जबतक मान-बड़ाईकी, सुख-आरामकी, कीर्तिकी इच्छा है, तबतक

वह पारमार्थिक मार्गमें आगे नहीं बढ़ सकता। कारण कि जहाँ परमात्माकी रुचि होनी चाहिये वहाँ भोग और संग्रहकी रुचि हो गयी। भोग और संग्रहके द्वारा उनका चित्त अपहृत हो गया—'**अपहृतचेतसाम्**' (गीता २। ४४)। उनके चित्तका हरण हो गया! बड़ी भारी चोरी हो गयी उन बेचारोंकी! उनके पासमें जो शक्ति थी, वह भोग और संग्रहमें लग गयी। परन्तु उनको मिलेगा कुछ नहीं। एक कौड़ी भी नहीं मिलेगी। केवल धोखा होगा, धोखा! परमात्माकी प्राप्तिसे रीते रह जायँगे! मान-बड़ाई कितने दिन होगी और होकर भी क्या निहाल करेगी? भोग कितने दिन भोगेंगे? संग्रह कितने दिन रहेगा? यहाँ इकट्ठा किया हुआ धन यहीं रह जायगा और उम्र खत्म हो जायगी!

अगर परमात्माकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहको महत्त्व मत दो। आजकल तो रुपयोंकी अपेक्षा उनकी संख्याको अधिक महत्त्व दे रहे हैं कि हम लखपति हो जायँ, करोड़पति हो जायँ, हमारे पास इतना संग्रह हो जाय। पासमें जो रुपये हैं, उनको खर्च नहीं कर सकते कि संख्या कम न हो जाय। अपने लड़कोंको यह शिक्षा देते हैं कि जितना कमाओ, उसीमेंसे खर्च करो, मूलधनको मत छेड़ो। मूलधनको ज्यों-का-त्यों रहने दो, उसको खर्च मत करो। कोई पूँजीमेंसे खर्च करे तो कहेंगे कि 'तुम्हारेमें अक्ल नहीं है, मूल पूँजी खर्च करते हो!' मूलधन आपके क्या काम आयेगा? उसमें क्या तूली (आग) लगाओगे? पर उसको खर्च नहीं करेंगे। जो नरकोंमें ले जानेवाली चीज है, वह खर्च कैसे की जाय! उसको खर्च कर देंगे तो दुर्गति कौन करेगा! अब ऐसे आदमी परमात्माकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं?

साधु हो, चाहे गृहस्थ हो, पढ़ा-लिखा हो; चाहे मूर्ख हो; भाई हो, चाहे बहन हो, जबतक संग्रह करनेकी और 'संग्रह बना रहे' इसकी रुचि रहेगी, तबतक वह पारमार्थिक मार्गपर नहीं चल सकता।

अगर आपके भीतर संग्रहकी रुचि नहीं है, तो आपके पास चाहे लाखों-करोड़ों रुपये हों, पर वे आपको अटका नहीं सकते। बैंकोंमें बहुत रुपये पड़े हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। मकान बहुत हैं, पर वे हमारेको अटकाते नहीं। क्यों नहीं अटकाते कि उनमें हमारी ममता नहीं है, उनकी प्राप्तिकी इच्छा नहीं है। अगर हमारी इच्छा हो जायगी तो हम फँस जायँगे।

जिन थोड़े-से आदमियोंको हमने अपना मान रखा है, जिस मकानको हमने अपना मान रखा है, उसीसे हम बँधे हुए हैं। जिन मनुष्योंको हमने अपना नहीं माना है, वे मर भी जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन रुपयोंको हमने अपना नहीं माना है, वे चाहे कहीं चले जायँ, नष्ट भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। जिन मकानोंको हमने अपना नहीं माना है, वे सब धराशायी भी हो जायँ तो हमारेपर असर नहीं पड़ेगा। अतः ज्यादा संसारसे तो हम मुक्त ही हैं, थोड़े-से आदमियों, थोड़े-से रुपयों, थोड़े-से मकानोंमें हम फँसे हुए हैं। अगर इन थोड़े-से आदमियों आदिकी ममताका त्याग कर दें तो निहाल हो जायँ ! हमारी ज्यादा मुक्ति तो हो चुकी है, थोड़ी-सी मुक्ति बाकी है। बन्धन ज्यादा नहीं है। ज्यादा बन्धन तो छूटा हुआ है। जिनमें आपकी ममता नहीं है, उनसे आप बन्धन-रहित हो और जिनमें आप ममता कर लेते हो, उनमें आप बँध जाते हो। परन्तु आपकी चाल यही है कि ज्यादा व्यक्तियोंमें, पदार्थोंमें ममता हो जाय। वक्ता चाहता है कि और कुछ नहीं तो श्रोता ही ज्यादा आ जायँ। ऐसी इच्छा नहीं रखेंगे तो फँसेंगे कैसे ! इसलिये अधिक भोग मिल जाय, अधिक संग्रह हो जाय—इस तरह इच्छा करते रहते हैं। इच्छा करनेसे पदार्थ मिलेगा नहीं। अगर मिल भी जाय तो टिकेगा नहीं और टिक भी जाय तो आप नहीं टिकोगे। परन्तु बन्धन तो हो ही जायगा। मरनेके बाद भी छूट सकोगे नहीं। अब नफा-नुकसान आप सोच लो।

मैं-मैं बुरी बलाय है, सको तो निकसो भाग।
कबतक निबहे रामजी, रुई लपेटी आग॥

रुईमें लपेटी आग कितनी देर ठहरेगी? जिन पदार्थोंमें आप मैं-मेरापन करते हो वे कितने दिन ठहरेंगे? वे तो ठहरेंगे नहीं, पर आपका पतन कर देंगे—इसमें संदेह नहीं। इसलिये हरेक भाई-बहनके लिये बहुत आवश्यक है कि वह संसारके भोग और संग्रहकी इच्छाको भीतरसे त्याग दें।

भीतरसे पदार्थोंकी इच्छाका त्याग करनेपर पदार्थ प्रारब्धके अनुसार अपने-आप आते हैं। इच्छा रखनेपर रुपये-पैसे, भोग-आराम मेहनतसे, बड़ी कठिनाईसे प्राप्त होते हैं। इच्छा करनेसे उनकी प्राप्तिमें बाधा लगती है और परमार्थमें बाधा तो लगती ही है। इच्छा रहनेपर तो रुपयोंके मिलनेसे हम अपनी सफलता मानते हैं, पर यदि इच्छा न रहे तो रुपये हमारे पास आकर सफल होंगे, हमारेमें रुपयोंकी गुलामी नहीं रहेगी।

आप परमात्मतत्त्वमें अपनी नित्य-निरन्तर स्थितिका अनुभव करना चाहते हो तो उत्पत्ति-विनाशवाले वस्तुओंका आकर्षण मिटाओ। नाशवान् वस्तुओंका आकर्षण मिटते ही अविनाशीकी तरफ स्वतः आकर्षण हो जायगा और उसकी प्राप्ति हो जायगी। अगर उत्पन्न और नष्ट होनेवालोंमें फँसे रहोगे तो सदा साथमें रहता हुआ भी अनुत्पन्न तत्त्व नहीं मिलेगा। उससे वञ्चित रह जाओगे और कुछ नहीं होगा। न धन मिलेगा, न धन रहेगा; न भोग मिलेंगे, न भोग रहेंगे और न आप रहोगे। केवल बन्धन-ही-बन्धन रहेगा।

मैं रुपयोंका विरोध नहीं करता, उनकी गुलामीका विरोध करता हूँ। न्याययुक्त कमाते हुए लाखों-करोड़ों रुपये आ जायँ तो प्रसन्नता रहे, और लाखों-करोड़ों रुपये चले जायँ तो भी वही प्रसन्नता रहे। तब तो आप 'धनपति' (धनके मालिक) हैं। परन्तु रुपये आ जायँ तो प्रसन्न हो जाओ और रुपये चले जायँ तो रोने लग जाओ, तब आप

'धनदास' (धनके गुलाम) हो; धनपति नहीं हो, नहीं हो, नहीं हो। रुपयोंके जानेसे रोने लग जाते हो कि हमारा मालिक (रुपया) चला गया, अब उसके बिना कैसे रहा जाय ! अरे, रुपये चले गये तो क्या हुआ, जिसने रुपये कमाये थे वह तो मौजूद ही है। परन्तु यह बात अक्लमें नहीं आती; क्योंकि धनको आपने अपना इष्टदेव मान रखा है। जिसने धनको अपना इष्टदेव बनाया हुआ है, उसको धनकी प्राप्तिके लिये झूठ, कपट, बेईमानी, धोखेबाजी आदिको अपना इष्ट बनाना पड़ता है; क्योंकि उसका यह भाव रहता है कि इनके बिना पैसा पैदा नहीं होता। अतः हे झूठ देवता ! हे कपट देवता ! हे ब्लैक देवता ! आप निहाल करें—ऐसी उसकी भक्ति होती है। जैसे भगवान्‌का भक्त भगवान्‌को याद करता है, उनका आश्रय लेता है, ऐसे ही धनका भक्त झूठ, कपट, ठगी आदिका आश्रय लेता है, उसको कोई समझाये तो वह कहेगा कि आजके जमानेमें झूठ, कपटके बिना काम नहीं चलता। अब ऐसे आदमीको ब्रह्माजी भी समझा नहीं सकेंगे ! इसलिये अगर परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति चाहते हो तो भोग और संग्रहकी इच्छाका त्याग करना ही पड़ेगा, नहीं तो परमात्मप्राप्ति दूर रही, परमात्मप्राप्तिका निश्चय भी नहीं कर सकोगे।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

★

१८. असत् पदार्थोंके आश्रयका त्याग करें

उत्पन्न और नष्ट होनेवाली वस्तुओंके बिना मेरा काम नहीं चलेगा—ऐसा मानना स्वयंकी खास भूल है। स्वयं परमात्माका साक्षात् अंश होनेसे सत् और अपरिवर्तनशील है। संसारकी जितनी वस्तुएँ हैं, वे असत् और परिवर्तनशील हैं।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।'

(गीता २। १६)

'असत्‌की तो सत्ता नहीं होती और सत्‌का अभाव नहीं होता।' बचपनसे लेकर आजतक देखें तो शरीर, शक्ति, योग्यता, खेल आदिका विषय, साथी, देश, काल, परिस्थिति आदि सबका परिवर्तन हो गया, पर मैं वही हूँ। सबका परिवर्तन हो गया—यह (बदलनेवाला) तो हुआ 'असत्' और मैं वही हूँ—यह (न बदलनेवाला) हुआ 'सत्'। स्वयं सत् होकर भी अपनेको असत्‌के अधीन मानना कि इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, बड़ी भारी भूल है!

शरीरके बिना मेरा काम नहीं चलेगा, रुपयोंके बिना काम नहीं चलेगा, कुटुम्बके बिना काम नहीं चलेगा, मकानके बिना काम नहीं चलेगा, कपड़ेके बिना काम नहीं चलेगा, अन्न-जलके बिना काम नहीं चलेगा—यह सब असत्‌का आश्रय है। असत्‌का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अगर उसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता तो उसको असत् क्यों कहते? असत् नाम ही उसका है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं

होता, जो किसीके आश्रित रहता है; जो निरन्तर मिटता रहता है, जो निरन्तर अदृश्य होता रहता है, जो निरन्तर अभावमें जाता रहता है। स्वयं सत् होते हुए भी असत्का आश्रय ले लेना, असत्के पराधीन हो जाना और उस पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कर लेना—यह खास गलती है।

पराधीनतामें भी स्वाधीन-बुद्धि कैसे होती है—इसको आप इस तरह समझें। मान लें कि आपको एक चश्मेकी जरूरत हुई। अब विचार होता है कि 'एक चश्मा चाहिये, क्या करें ? किससे कहें ? कौन लाकर दे ?' हमारे पास रुपये नहीं हैं, इसलिये हम पराधीन हो गये। अगर हमारे पास रुपये होते तो हम पराधीन नहीं होते और चट रुपये देकर ले लेते। इस प्रकार पासमें रुपये न होनेसे आप अपनेको पराधीन मानने लगते हैं। अब विचार करें कि आप स्वयं रुपये हो क्या ? रुपये भी तो 'पर' ही हैं। आप रुपयोंके अधीन होनेपर भी अपनेको स्वाधीन मान लेते हो—यही पराधीनतामें स्वाधीनता-बुद्धि होना है।

पराधीनतामें स्वाधीनताकी बुद्धि होनेके समान दूसरा अनर्थ कोई है ही नहीं। सम्पूर्ण पाप इसके बेटे हैं। पाप, अन्याय, झूठ, कपट, नरक आदि सब इस बुद्धिके होनेसे ही होते हैं। आप विचार करें कि रुपये 'स्व' हैं या 'पर' हैं ? रुपयोंके अधीन होना स्वाधीनता है या पराधीनता है ? परन्तु आप पराधीनतामें ही स्वाधीनताकी बुद्धि कर लेते हैं कि हमारे पास रुपये होते तो हम चट रेलपर, हवाई जहाजपर चढ़कर चले जाते; यह ले लेते, वह ले लेते। यह रुपयोंकी पराधीनता है। रुपयेके बिना वस्तु नहीं मिलती, यह प्रत्यक्ष बात है, फिर हम स्वाधीन कब होंगे ? हम स्वाधीन तब होंगे जब हमें किसी चीजकी जरूरत ही नहीं रहे; न चश्मेकी जरूरत रहे, न अन्न-जलकी जरूरत रहे, न कपड़ेकी जरूरत रहे। यह कब होगा ? यह तब होगा, जब

आप स्वयंको शरीरसे अलग अनुभव करोगे।

आप शरीरके साथ मिलकर एक हो जाते हो तो शरीरकी जरूरत आपकी जरूरत हो जाती है। जैसे, कोई पुरुष विवाह कर लेता है तो जब वह स्त्रीके लिये लँहगा, नथ आदि खरीदने जाता है तो दुकानदारसे कहता है कि मेरेको लहँगा चाहिये, नथ चाहिये। दुकानदार उससे पूछे कि क्या तुम लहँगा, नथ पहनते हो तो वह कहेगा मेरेको नहीं, घरमें चाहिये। उसने स्त्रीके साथ सम्बन्ध कर लिया, तो अब स्त्रीकी आवश्यकता उसकी अपनी आवश्यकता हो गयी। ऐसे ही शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' कर लेनेसे शरीरकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता दीखने लग जाती है। वास्तवमें यह आपकी आवश्यकता नहीं है, यह शरीरकी आवश्यकता है। आपको किसी वस्तुकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है।

श्रोता—शरीरसे मैं अलग हूँ, यह अनुभव नहीं होता, क्या करें ?

स्वामीजी—शरीर ही मैं हूँ और शरीर ही मेरा है—यह असत्‌का संग है। आप सत् हो, शरीर असत् है। आप अविनाशी हो, शरीर विनाशी है। अतः आप और शरीर एक कैसे हुए ?

श्रोता—इस बातको जानते हैं, पर यह जानना टिकाऊ नहीं रहता।

स्वामीजी—टिकाऊ नहीं रहता तो इसका दुःख होता है क्या ? टिकाऊ रहनेसे कोई फायदा और टिकाऊ न रहनेसे कोई नुकसान दीखता है क्या ? अगर आप 'मैं शरीरसे अलग हूँ'—इस जानकारीको वास्तवमें टिकाऊ रखना चाहते हैं तो कोई बाधा है ही नहीं। परन्तु आप इसको टिकाऊ रखना चाहते ही नहीं। इसके टिकाऊ न रहनेका आपको दुःख ही नहीं है। इस समय तो आप ऐसा कहते हो कि यह टिकाऊ नहीं रहता, पर क्या दूसरे समय भी आपको इसकी

याद आती है ?

आप शरीरकी आवश्यकताएँ पूरी कर ही लेते हो—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें शरीरकी आवश्यकता स्वतः पूरी होती है।

प्रारब्ध पहले रचा, पीछे रचा शरीर।
तुलसी चिन्ता क्यों करे, भज ले श्रीरघुवीर ॥

शरीर-निर्वाहका आपके ऊपर ठेका नहीं है। आप शरीर-निर्वाहकी चिन्ता करके जान-बूझकर आफत मोल लेते हो। वास्तवमें शरीरका निर्वाह जैसा होना होगा, वैसा ही होगा, चेष्टा करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा और चेष्टा नहीं करनेपर भी वैसा ही निर्वाह होगा। प्रारब्धमें अगर बिना अन्नके मरना लिखा है तो बिना अन्नके मरना पड़ेगा, चाहे कितनी ही चेष्टा कर लो। अगर मरना नहीं है तो चाहे कुछ भी चेष्टा मत करो, शरीरका निर्वाह होगा।

इस बातपर आप ध्यान देना कि आपके शरीर-निर्वाहके लिये तो परमात्माकी तरफसे प्रबन्ध है, पर आपकी तृष्णाकी पूर्तिके लिये प्रबन्ध नहीं है, नहीं है, नहीं है। आप जो चाहते हो कि इतना मिल जाय, इतना मिल जाय—इसकी पूर्तिके लिये कोई प्रबन्ध नहीं है; परन्तु आपके शरीर-निर्वाहके लिये पूरा प्रबन्ध है। जिसने जन्म दिया है, उसने जीवन-निर्वाहका भी पूरा प्रबन्ध किया है। अपनी माँके स्तनोंमें दूध आपने-हमने पैदा किया था क्या ? माँका दूध पैदा करनेके लिये आपने-हमने कोई उद्योग किया था क्या ? माँके दूधका प्रबन्ध जिसने किया था, क्या वह बदल गया ? क्या वह मर गया ? क्या अब कोई नयी बात हो गयी ? इसलिये शरीर-निर्वाहके लिये चिन्ता कभी नहीं करनी चाहिये। चेष्टा करनेके लिये मैं मना नहीं करता। निर्वाहमात्रके लिये चेष्टा करो। कारण कि पदार्थोंका कर्मोंके साथ सम्बन्ध है। अतः कर्म तो करो, पर चिन्ता मत करो।

मोटरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—१. मोटर गैरजमें खड़ी है।

उस समय न तो इंजन चलता है और न पहिये चलते हैं, दोनों बन्द हैं। २. जब मोटर चालू करते हैं, तब इंजन तो चलने लगता है, पर पहिये नहीं चलते। ३. जब मोटरको वहाँसे रवाना कर देते हैं, तब पहिये भी चलते हैं और इंजन भी चलता है। ४. चलते-चलते आगे साफ मैदान आ गया, बहुत दूरतक रास्ता साफ दीखता है, वृक्ष आदिकी कोई आड़ नहीं है और रास्ता ढलवाँ है अर्थात् थोड़ा नीचेकी तरफ जा रहा है, उस समय इंजन बन्द कर दें तो पहिये चलते रहेंगे—मोटर चलती रहेगी और तेल भी खर्च नहीं होगा। इस प्रकार मोटरकी चार अवस्थाएँ हुईं। इन चारों अवस्थाओंमें सबसे बढ़िया अवस्था वह हुई, जिसमें पहिये तो चलें पर इंजन न चले अर्थात् तेल भी खर्च न हो और रास्ता भी तय हो जाय। सबसे घटिया अवस्था वह हुई जिसमें इंजन तो चले, पर पहिया न चलें अर्थात् तेल तो जले, पर रास्ता तय न हो। ऐसे ही आप भीतरसे चिन्ता करते हैं—यह आपकी घटिया अवस्था है। परंतु आप चिन्ता न करके कर्तव्य करते हैं—यह आपकी बढ़िया अवस्था है। इसको गीताने 'कर्मयोग' कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

'तेरा कर्तव्य-कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं। अतः तू कर्मफलका हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यतामें भी आसक्ति न हो।'

अकर्मण्य कभी मत होओ। कर्तव्य-कर्म करते रहो, पर फलकी इच्छा मत करो। चिन्ता मत करो कि क्या मिलेगा, कैसे होगा! इच्छा करनेसे, चिन्ता करनेसे पदार्थ नहीं मिलते। पदार्थ कर्मोंसे मिलते हैं, चाहे वे कर्म पूर्वके (प्रारब्ध) हों अथवा वर्तमानके।

इसलिये कर्म करो। भीतरके इंजनको क्यों चलाते हो अर्थात् चिन्ता क्यों करते हो ?

चिन्ताके विषयमें एक बात और समझनेकी है। अन्तःकरणकी दो वृत्तियाँ हैं—एक विचार है और एक चिन्ता है। विचारसे बुद्धि विकसित होती है और चिन्तासे बुद्धि नष्ट होती है—'**बुद्धिः शोकेन नश्यति**'। विचारपूर्वक कोई काम किया जायगा तो वह काम बढ़िया होगा। अगर चिन्ता हो जायगी तो वह काम घटिया होगा, उसमें भूलें होंगी। जिसके भीतर चिन्ता-शोक होते हैं, उस आदमीको होश नहीं रहता, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है। इसलिये चिन्ता न करके सभी काम विचारपूर्वक करो। छोटे-से-छोटा और बड़े-से-बड़ा जो भी काम करो, विचारपूर्वक ठीक तरहसे करो।

अपनी शारीरिक आवश्यकताएँ हम पूरी कर लेंगे—यह अपने हाथकी बात बिलकुल नहीं है। आवश्यकता वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि शरीर भी वास्तविक नहीं है, फिर इसकी आवश्यकता कैसे वास्तविक होगी ? आप स्वयं वास्तविक हो, इसलिये आपकी आवश्यकता ही वास्तविक आवश्यकता है। आपकी आवश्यकता है—आत्मतत्त्वको प्राप्त करना। शरीर-निर्वाहकी आवश्यकता पूरी होनेवाली होगी तो पूरी हो जायगी और पूरी नहीं होनेवाली होगी तो पूरी नहीं होगी; परन्तु परमात्मतत्त्वकी आवश्यकता आप चाहोगे तो जरूर पूरी होगी; क्योंकि इसके लिये ही यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्य-शरीर खाने-पीनेके लिये नहीं मिला है। हमने शास्त्रमें ? कहीं ऐसी बात नहीं पढ़ी कि यह मनुष्य-शरीर रुपया कमानेके लिये मिला है अथवा भोग भोगनेके लिये मिला है। सदाके लिये कल्याण हो जाय, उद्धार हो जाय—इसके लिये ही मनुष्य-शरीर मिला है। इस विषयमें भी एक बड़े रहस्यकी, छिपी हुई बात है कि परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति शरीरसे नहीं होता ! परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति विवेकशक्तिसे होती है,

शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे नहीं। सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सार-असार आदिको ठीक-ठीक जाननेके लिये मनुष्यको जो विवेकशक्ति मिली हुई है, उसीसे उद्धार होगा। उस विवेक-शक्तिका सदुपयोग करनेसे सांसारिक काम भी बढ़िया होगा और पारमार्थिक काम भी बढ़िया होगा। इसलिये उस विवेकशक्तिका सदुपयोग करें, इसीके लिये मानव-शरीर मिला है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

१९. स्वार्थरहित सेवाका महत्त्व

जैसे हाथ, पैर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, मस्तिष्क आदि एक ही शरीरके अनेक अवयव हैं और ये सब मिलकर शरीर-निर्वाहके लिये काम करते हैं। इन सबके काम तो अलग-अलग हैं, पर अलग-अलग काम करते हुए भी ये सभी परस्पर एक-दूसरेके हितमें लगे रहते हैं। ऐसे ही संसारमात्रके जो अनेक प्राणी हैं, उन सबको भी मिलकर समष्टि संसारके हितके लिये काम करना चाहिये। गलती वहाँ होती है, जब वे केवल अपने लिये ही काम करते हैं। जैसे, हाथ केवल अपने लिये ही काम करें, पैर, आँख, कान आदि किसीके लिये नहीं, तो शरीरका निर्वाह नहीं होगा। पैर कहें कि हम तो अपने लिये ही काम करेंगे, शरीरको हम क्यों उठायें ? हाथोंको हम क्यों उठायें ? तो शरीरका काम नहीं चलेगा। इसी तरह स्वार्थमें आकर हर प्राणी अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहे तो संसारका काम नहीं चलेगा। अपने स्वार्थके लिये काम करनेसे ही काम बिगड़ता है।

सम्पूर्ण प्राणी एक ही संसारके अनेक अवयव हैं। किसी भी रीतिसे शरीर संसारसे अलग सिद्ध नहीं हो सकता। बनावटकी दृष्टिसे, धातुकी दृष्टिसे, संरक्षककी दृष्टिसे देख लो, शरीरको संसारसे अलग सिद्ध नहीं कर सकते। जैसे शरीरके अवयव अलग-अलग होते हुए भी एक ही शरीरके अंग हैं, ऐसे ही संसारमें छोटे-बड़े जितने भी प्राणी हैं, वे सब एक विराट्-(समष्टि-संसार-) के ही अंग हैं। एक विराट्के अंग होकर भी वे अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करते हैं—यह गलती है।

अपना स्वार्थ सिद्ध करें या नहीं करें—इसका ज्ञान पशु-पक्षियोंमें नहीं है; परन्तु मनुष्यमें इसका ज्ञान (विवेक) है। मनुष्य विवेकपूर्वक यह विचार कर सकता है कि यह सम्पूर्ण संसार अपना कुटुम्ब है, फिर एक अपने स्वार्थके लिये काम कैसे करें? नीतिमें भी आया है—

अयं निजः परो वेत्ति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

(पञ्चतन्त्र, अपरीक्षित ३७)

'यह तो हमारा है और यह दूसरोंका (पराया) है—ऐसा विचार तो तुच्छ हृदयवाले लोगोंका हुआ करता है। जिनका हृदय उदार है, उनके लिये तो सारा संसार ही कुटुम्ब है।'

संसारका कोई भी प्राणी हो, चाहे वह स्थावर हो या जंगम, अपने ही कुटुम्बका है। शास्त्रोंमें आया है कि जैसे अपने घरमें रहनेवाले लोग अपने कुटुम्बी हैं, ऐसे ही अपने घरमें रहनेवाली चीटियाँ, मक्खियाँ, चूहे आदि भी अपने कुटुम्बी ही हैं। वे भी उस घरको अपना घर मानते हैं। चिड़ियाँ उस घरमें जहाँ अपना घोंसला बनाती हैं, वहाँ दूसरी चिड़ियोंको नहीं रहने देतीं। विचार करें, एक घरमें भी कितने घर हैं! सबका अपना-अपना घर है। अतः घरको केवल अपना ही मानना और केवल अपने घरके लिये ही सब काम करना पशुता है। मनुष्यता नहीं। भागवतमें आया है कि इस पशुबुद्धिका त्याग कर दो—'**पशुबुद्धिमिमां जहि**' (श्रीमद्भागवत १२।५।२)। सबके हितमें अपना हित मानना ही मनुष्यबुद्धि है।

आज जो आध्यात्मिक उन्नतिमें देरी हो रही है, उसका खास कारण यही है कि आप अपना व्यक्तिगत हित ही चाहते हैं अर्थात् अपने व्यक्तित्वको, परिच्छिन्नताको कायम रखते हैं। मेरी मुक्ति हो, मेरेको सुख मिले, मेरा हित हो, मेरा मतलब सिद्ध हो—इस व्यक्तित्त्वको, एकदेशीयताको आप छोड़ते नहीं। पशुका जो स्वभाव

है, उसी स्वभावको लेकर आप काम करते हैं।

गीतामें आया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(३।१०-११)

'प्रजापति ब्रह्माजीने सृष्टिके आदिकालमें कर्तव्य-कर्मोंके विधानसहित प्रजाकी रचना करके उनसे (प्रधानतया मनुष्योंसे) कहा कि तुमलोग अपने कर्तव्यके द्वारा अपनी वृद्धि करो और वह कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ तुमलोगोंको कर्तव्य-पालनकी आवश्यक सामग्री प्रदान करनेवाला हो ! अपने कर्तव्य-कर्मके द्वारा तुमलोग देवताओंको उन्नत करो और वे देवतालोग अपने कर्तव्यके द्वारा तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे।'

तात्पर्य है कि आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके देवता तथा चन्द्र, सूर्य आदि देवता मात्र जीवोंकी वृद्धि करें, उनका पालन करें, उनकी सेवा करें। मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंका पूजन करें, उनकी वृद्धि करें, उनकी सेवा करें। यहाँ 'देव' शब्द उपलक्षणरूपसे है; अतः 'देव' शब्दके अन्तर्गत मात्र प्राणियोंको लेना चाहिये। मनुष्यका कर्तव्य मात्र प्राणियोंका हित चाहना है, उनकी सेवा करना है। इसलिये मनुष्यको अपने-अपने कर्तव्य-कर्मोंके द्वारा दूसरोंकी सेवा करनी चाहिये। जैसे, ब्राह्मण अपने ब्राह्मणोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, क्षत्रिय अपने क्षत्रियोचित कर्मसे सबकी सेवा करे, वैश्य अपने वैश्योचित कर्मसे सबकी सेवा करे और शूद्र अपने शूद्रोचित कर्मसे सबकी सेवा करे। इस प्रकार एक-दूसरेकी सेवा करनेसे परमश्रेयकी प्राप्ति हो जायगी।

परमश्रेयकी प्राप्तिमें केवल अपनी स्वार्थ-भावना ही बाधक है। आपके पास जितनी वस्तुएँ हैं, वे समष्टिकी हैं और सबकी सेवाके लिये हैं। उन वस्तुओंसे अपना निर्वाह भी दूसरोंकी सेवाके लिये करो, अपने सुखभोगके लिये नहीं—**'एहि तन कर फल बिषय न भाई'** (मानस ७।४४।१)। मनुष्य-शरीरका उद्देश्य विषय-भोग करना, संसारका सुख लेना नहीं है, प्रत्युत सबकी सेवा करना है। इसीलिये सबको सुख कैसे पहुँचे, सबको आराम कैसे पहुँचे, सबका भला कैसे हो—यही चिन्तन करो, यही विचार करो। ब्रह्माजी कहते हैं—

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

(गीता ३।१२)

'यज्ञसे भावित (पुष्ट) हुए देवता भी तुमलोगोंको कर्तव्यपालनकी आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंसे प्राप्त हुई सामग्रीको दूसरोंकी सेवामें लगाये बिना जो मनुष्य स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह चोर ही है।'

मनुष्यको जो सामग्री मिली है, वह सबकी सेवा करनेके लिये मिली है केवल अपने उपभोगके लिये नहीं, जो अकेला उसका उपभोग करता है, उसको चोर कहा गया है—**'स्तेन एव सः'**। अगर मिली हुई सामग्री अपने उपभोगके लिये ही होती, तो उसको चोर नहीं कहते! इसलिये मनुष्यको जो भी सामग्री मिली है, उसको अकेले भोगनेका वह अधिकारी नहीं है। जैसे परिवारमें जो आदमी पैसे कमाता है, उसके द्वारा कमाये हुए पैसोंपर अकेले उसका ही हक नहीं लगता, प्रत्युत उसके पूरे परिवारका हक लगता है। अगर वह अपनी स्त्रीसे कह दे कि 'मैं अकेला ही खाऊँगा; तू तो घरपर बैठी रहती है, तेरेको क्यों दिया जाय? माँ-बापसे कहे कि आप तो ऐसे ही घरपर बैठे रहते हैं, आपको क्यों दिया जाय? मैंने मेहनत की है, मैंने

कमाया है; अतः मैं अकेला ही भोग करूँगा' तो ऐसी परिस्थितिमें क्या परिवारमें सुख-शान्ति रहेगी ? परिवारका काम ठीक तरहसे चलेगा ? कभी नहीं। इसी तरहसे अगर लोग केवल अपने स्वार्थकी पूर्तिमें ही लगे रहेंगे तो सृष्टिका काम ठीक तरहसे नहीं चलेगा।

हमारे पास जो कुछ है, वह सब हमें संसारसे ही मिला है। शरीर और उसके लिये अन्न, जल, वस्त्र, हवा, रहनेका स्थान आदि हमें समष्टि संसारसे मिले हैं। धनी-से-धनी व्यक्ति, राजा-महाराजा भी ऐसा नहीं कह सकता कि मैं दूसरेसे सेवा लिये बिना अपना निर्वाह कर लूँगा। कैसे कर लेगा ? वह सड़कपर चलेगा, तो क्या सड़क अपनी बनायी हुई है ? किसी वृक्षके नीचे ठहरेगा, तो क्या वह वृक्ष अपना लगाया हुआ है ? कहीं जल पीयेगा, तो क्या कुआँ अपना खुदवाया हुआ है ? उसे संसारसे लेना ही पड़ेगा, परवश होकर लेना पड़ेगा। लेना तो पशुओंको भी पड़ेगा, फिर मनुष्यकी बुद्धिकी क्या विशेषता हुई ? लिया है तो देना भी चाहिये; परवशतासे जो लिया है, उससे भी ज्यादा देना है— यह मनुष्यबुद्धिकी विशेषता है। भगवान्‌ने कहा है—**'ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः'** (गीता १२।४) 'जो मनुष्य प्राणिमात्रके हितमें रत होते हैं, वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं।' प्राणिमात्रके हितमें रति होनी चाहिये। उनका हित कर दें—यह हाथकी बात नहीं है। सारा संसार मिलकर एक आदमीकी इच्छा भी पूरी नहीं कर सकता, तो फिर एक आदमी सारे संसारकी इच्छा पूरी कैसे कर देगा ? मनुष्यका कर्तव्य यह है कि उसके पास जो सामग्री है, उसको वह उदारतापूर्वक दूसरोंके हितके लिये समर्पित कर दे। ऐसा करनेसे उसको कल्याणकी प्राप्ति हो जायगी।

मनुष्य जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थभाव रखेगा, उतना ही वह संसारमें नीचा माना जायगा। कमानेवाला केवल अपना ही पेट भरेगा, अकेला ही सामग्रीका उपभोग करेगा तो वह न घरमें आदर पायेगा, न बाहर। वह जितना-जितना व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करके

कुटुम्बकी सेवा करेगा, उतना ही वह अच्छा माना जायगा। अगर वह केवल कुटुम्बका ही नहीं, पड़ोसियोंका भी हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल पड़ोसियोंका ही नहीं, सम्पूर्ण गाँवका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल गाँवका ही नहीं, प्रान्तका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। केवल प्रान्तका ही नहीं, सारे देशका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह देश-विदेशका, सम्पूर्ण पृथ्वीका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा ! अगर वह देवता, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि मात्र जीवोंका हित चाहेगा तो वह और श्रेष्ठ होगा। अगर वह भगवान्‌की सेवा करेगा, भगवान्‌का भजन-कीर्तन-ध्यान करेगा तो वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा। जैसे वृक्षके मूलमें जल डालनेसे सम्पूर्ण वृक्ष स्वतः हरा हो जाता है, ऐसे ही संसाररूपी वृक्षके मूल भगवान्‌का चिन्तन करनेसे, भजन करनेसे संसारमात्रकी सेवा स्वतः हो जाती है।

सिद्धान्त यह हुआ कि मनुष्यके द्वारा जितनी व्यापक सेवा होगी, उतना ही वह श्रेष्ठ हो जायगा। हमें जो कुछ मिला है, वह सृष्टिसे मिला है। इसलिये उसको बड़ी ईमानदारीसे सृष्टिकी सेवामें लगा देना चाहिये। यह गीताका कर्मयोग है।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

——::०::——